❀ ओ३म् ❀

श्री पूर्णदेवी ग्रन्थमाला—प्रथमपुष्प

श्री पूर्णदेवी स्मारक

ईशावास्योपनिषद्

महर्षि श्रीमद्दयानन्दकृतभाषाभाष्य तथा
विविधमतभावसंग्रहसहित

संग्रहीता

रघुनाथदत्त बन्धुः

श्री ... ठाकुरदत्त शर्मा वैद्य, अमृतधारा, देहरादून
ने अपनी आदर्श धर्मपत्नी
श्रीमती पूर्णदेवी जी
...यस्मृति में धर्म-प्रेमी सज्जनों में वितरण करने
के लिए प्रकाशित किया।

प्रथम वार
५०००

संवत् २०१२

[प्रेमोपहार

...य ❀

...आज्ञानुसार
... दो प्रतियाँ
...विचारों का
... है।
...केगी।

... ग्रन्थमाला का दूसरा पुष्प

...ना बन्दर थी ?

...के पुस्तकालय के लिए पूज्य
... हूँ।

...त्री।

❀ ओ३म् ❀

श्री पूर्णदेवी ग्रन्थमाला—प्रथमपुष्प

श्री पूर्णदेवी स्मारक

ईशावास्योपनिषद्

महर्षि श्रीमद्दयानन्दकृतभाषाभाष्य तथा
विविधमतभावसंग्रहसहित

संग्रहीता

रघुनाथदत्त बन्धुः

श्री पं. ठाकुरदत्त शर्मा वैद्य, अमृतधारा, देहरादून
ने अपनी आदर्श धर्मपत्नी
श्रीमती पूर्णदेवी जी
की पुण्यस्मृति में धर्म-प्रेमी सज्जनों में वितरण करने
के लिए प्रकाशित किया।

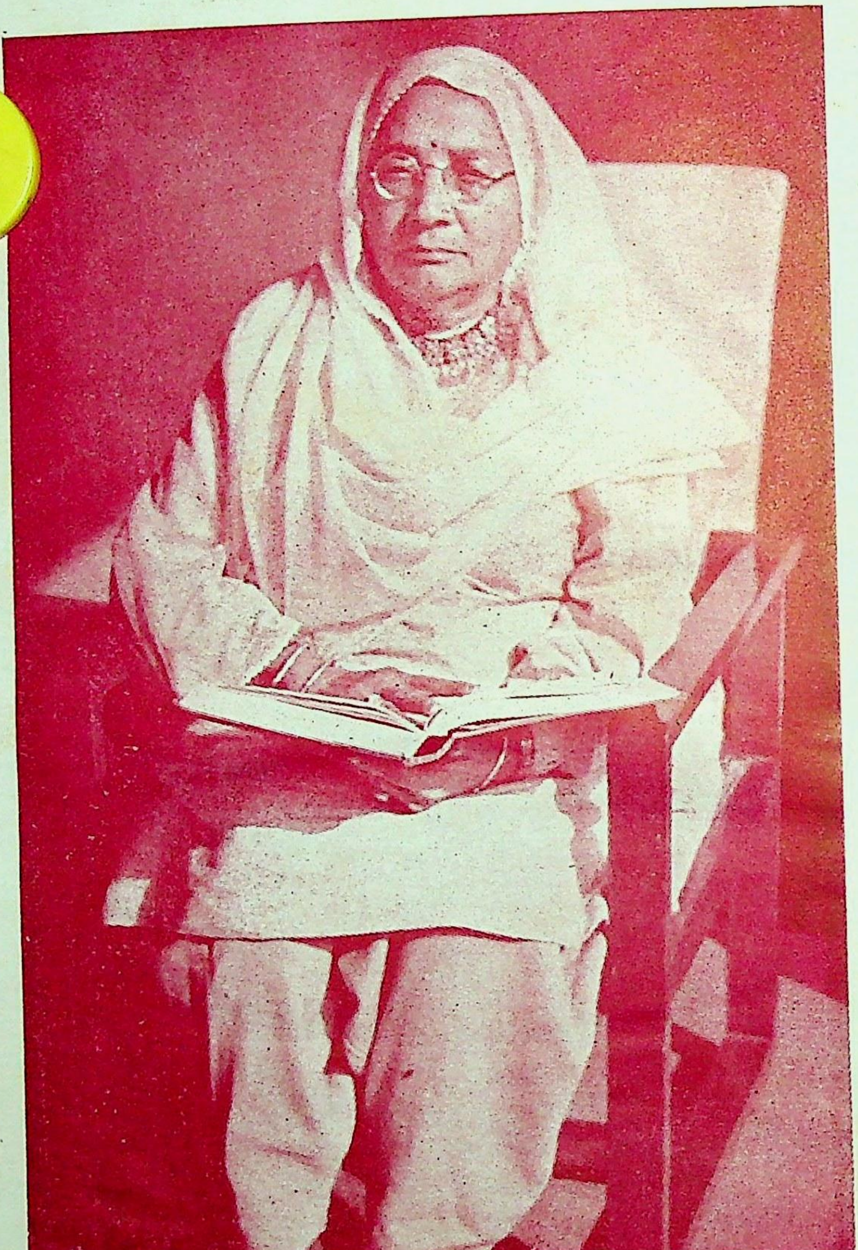
प्रथम वार
५००० } संवत २०१२ [प्रेमोपहार

आवश्यक निवेदन

आपको मेरा अगला लेख पढ़ने से यह तो स्पष्ट ही हो जायेगा कि मैं आर्यसमाज का एक तुच्छ कार्य-कर्ता हूँ। इसी-लिये श्री १०८ स्वामी दयानन्द के भाष्य को प्रथम स्थान दिया है। और द्वितीय भाग जिज्ञासुओं को सब आचार्यों के विचार जानने की सुविधा के वास्ते है। उनमें भी जो वैदिक सिद्धान्तों के अनुकूल हैं वे सब मुझे मान्य हैं। हर विचार के विद्वानों को इससे बड़ा लाभ होगा, ऐसी मुझे पूर्ण आशा है।

विनीत :—
ठाकुरदत्त शर्मा वैद्य

मुद्रक :—
देवदत्त शास्त्री, विद्याभास्कर,
विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टीच्यूट प्रैस,
P.O. साधु आश्रम, होशिआरपुर (पंजाब)



श्री मती माननीया पूर्णदेवी जी, जन्म सं० १६३७ निर्वाण सं० २०११ वैशाख कृष्ण षष्ठी

स्वर्गीया श्रीमती पूर्णदेवी
(जीवन की कुछ घटनाएँ)

श्रीमती पूर्णदेवी सचमुच सत्युग की एक देवी थी। हमारा विवाह ११-१२ वर्ष की अवस्था में ही उस समय की प्रथानुसार हो गया था। वाग्दान तो ५-६ वर्ष की आयु में हो गया था। हमारी दोनों की आयु लगभग बराबर ही थी। दोनों का जन्म संवत् १९३७ वि० ही था।

मैं फत्तेहवाल (ज़िला अमृतसर) का निवासी हूँ। उनका जन्मस्थान था--नौशहरा मज्जासिंह, ज़िला गुरदासपुर।

वाग्दान (मंगनी) की घटना भी अद्भुत है। नारोवाल और नौशहरा मज्जासिंह से दो नाई शकुन लेकर फत्तेहवाल पहुँच गये। घर वालों ने वृत्तान्त पूछे तो नारोवाल (ज़िला स्यालकोट) का घराना धनाढ्य ज्ञात हुआ। नौशहरा के नाई ने स्पष्ट कह दिया कि "उसका यजमान तो एक निर्धन व्यक्ति है, घर में कोई पुत्र भी नहीं, केवल दो कन्याओं ने जन्म पाया है। एक कन्या का विवाह हो चुका है और दूसरी विवाह के योग्य है—उसी सम्बन्ध में यह शकुन लाया हूँ।"

घर वालों ने नारोवाल के नाई का बहुत स्वागत सत्कार करना आरम्भ कर दिया। सबका ध्यान उसी ओर आकृष्ट हो गया। परन्तु, घर के वृद्ध पुरुष अर्थात् मेरे दादा जी (बाबा जी) घर में उपस्थित नहीं थे। बड़ों की आज्ञा और अनुमति के विना कुछ नहीं हो सकता था। अतः, दोनों ही उनकी प्रतीक्षा में तीन-चार दिन तक टिके रहे। बाबा जी के आ जाने पर दोनों ने अपना-अपना वृत्तान्त सुनाना आरम्भ किया।

ध्यानपूर्वक सुन लेने के बाद बाबा जी ने उनसे पूछा "मेरे घर में प्रथम किसने प्रवेश किया था।" ? इस पर नौशहरा से आये हुए नाई ने आगे बढ़ कर निवेदन किया कि "पहले तो मेरा पग ही इस घर में पड़ा।" इस पर बाबा जी ने हाथ फैलाया और शकुन माँग लिया इस विचार से कि जिस देवी ने प्रथम पदार्पण किया है वही हमारे घर की श्री और शोभा है। उनके ये वचन सचमुच यथार्थ सिद्ध हुए। उन दिनों, और वह भी ग्रामों में, कन्याओं को देखने की प्रथा नहीं थी।

विवाह

११-१२ वर्ष की अवस्था में विवाह हो गया। देवी तीन दिन फत्तेहवाल रह कर नौशहरा चली गयी। उसके तीन वर्ष के उपरान्त द्विरागमन (मुकलावा) सम्पन्न हुआ। कुछ दिन रह कर पुनः अपने पितृ-गृह लौट गयीं। एक या दो वर्ष के बाद त्र्यागमन हुआ। तब हमारा शुभ-मिलन हुआ और उसके पश्चात् ७३ वर्ष की आयु तक, जबकि २४ अप्रैल १९५४, तदनुसार १२ वैशाख सम्वत् २०११ को वह मुझे छोड़ कर परलोक सिधार गयीं, हम प्रायः इकट्ठे ही रहे।

पति-परायणता

विवाह अल्प अवस्था में ही—बाल्यकाल में—हो गया था, पढ़ी-लिखी भी कुछ नहीं थीं। परन्तु इस देवी के माता-पिता पठित न होते हुए भी इतने उच्च विचारों के थे कि उन्होंने पतिव्रत धर्म्म की समुज्ज्वल शिक्षा से इन्हें पूर्ण दीक्षित कर दिया था और अपने धर्म्म कर्म्म में सम्यक् रूप से लगा दिया था। वर्ष भर के स्त्रियों के समस्त पौराणिक व्रतोपचार और नारी धर्म के कृत्य इनको कंठाग्र थे और उनका यथावत् पालन करती थीं। मैं तो आर्य्यसामाजिक विचारों का था। फिर तो मेरे पास आकर जिस प्रकार मैंने कहा उसी प्रकार चलने लगीं। मैंने स्वयं हिन्दी पढ़ायी और वैदिक धर्म्म की शिक्षा दी। इतनी अनन्य अनुगामिनी वृत्ति की थीं कि आर्य्यसमाज में मेरे साथ-साथ जातीं और कई बातों में तो मुझसे भी

आगे बढ़ गयीं। अटूट लगन और उत्साह के परिणाम-स्वरूप वर्षों तक स्त्री आर्य्यसमाज वच्छोवाली (लाहौर) की प्रधाना रहीं और इतनी अधिक सम्मानित हुईं कि सब स्त्रियां उनके संकेतमात्र पर चलती थीं। अब समस्त पौराणिक व्रतोपचार, कथा-कीर्त्तन और पूजा कृत्य समाप्त हो चुके थे। फिर भी पंजाब की नारियों को 'करवा चौथ' का व्रत अत्यन्त प्रिय है। यह पति के कल्याण के लिए बहुत आवश्यक माना जाता है। इसको न करना बड़ा अपशकुन गिना जाता है। कार्त्तिक मास में जब करवा चतुर्थी आयी तो मैंने उनसे कह दिया कि "मैं तो आर्य्यसमाजी हूँ, मेरी धर्मपत्नी इस व्रत को नहीं रख सकती।" इस आदेश पर मेरे माता-पिता भी अप्रसन्न हुए। किन्तु उन दिनों नयी उमंग, नया उत्साह तरङ्गायित था। मैं सहमत नहीं हुआ। अन्त में, हृदय मसोस कर देवी ने मेरी बात मान ली। दिन भर प्रार्थना में हृदय से तल्लीन रहीं। इसी प्रकार कई वर्ष व्यतीत हो गये।

पूज्य श्री स्वामी सत्यानन्द जी हमारे ऊपर स्नेह-सिंचित अनुग्रह करते रहे हैं। स्वयं आयु में बड़े होते हुए भी वह इस देवी को मातृवत् मानते रहे हैं। एक दिन उन से व्रतों के सम्बन्ध में बातचीत चल पड़ी तो श्री स्वामी जी ने कहा कि "कुछ व्रत सम्बन्ध-सूचक होते हैं जिन का अभिप्राय यह है कि व्रत द्वारा मन को पवित्र करके उस सम्बन्ध का विचार किया जाय। उदाहरण के रूप में व्यास-पूजा का व्रत गुरुविशेष के सम्बन्ध का सूचक है, भ्रातृ-द्वितीया (भैया दूज) भाई और बहिन के सम्बन्ध की सूचक है। इसी प्रकार करवाचौथ भी पति एवं पत्नी के सम्बन्ध का सूचक है और वृद्ध सम्बन्धियों को सम्मानित करने की शिक्षा देता है। इस व्रत के रखने में कोई हानि नहीं है।" इस पर देवी ने बड़ी नम्रता पूर्वक निवेदन किया कि अब तो करवाचौथ का व्रत रखने की आज्ञा प्रदान कर दीजिये। मैंने कहा— 'यदि यह सम्बन्ध सूचक है तो इस व्रत के द्वारा पति और पत्नी को अपनी-अपनी प्रतिज्ञाओं का स्मरण

पूर्वक पालन करना चाहिये। पत्नी पति के कल्याण की कामना करती है तो पुरुष को भी पत्नी के कल्याण की भावना करनी चाहिये। अतएव हम दोनों ही करवाचौथ का व्रत रखा करेंगे। किन्तु, मैं कोई ऐसा पौराणिक कृत्य नहीं करने दूँगा जैसा कि चन्द्रमा को अर्घ्य देना, कलशों या करवों का पूजन करना इत्यादि।'

उन्होंने मेरी बात मान ली। पर, मान कर ग़ज़ब ही कर दिया। रात हुई। वह जल लेकर आयीं और मेरे बहुत आग्रह करने अपितु रोकर रोकने पर भी श्रद्धावनत होकर मेरे पैर धोकर चरणामृत पान कर गयीं। तदुपरान्त व्रत खोल दिया। उस घड़ी जो प्रार्थना वह प्रभु से किया करती थीं, वह भी बड़ी अद्भुत होती कि 'मेरे पति जिस प्रकार मेरा डोला लाये हैं, उसी प्रकार हे प्रभु! मुझे श्मशान में छोड़ कर आवें।' वह तो मुझ से यहां तक कहा करतीं कि 'आप जिस समय मेरा दाह करके आवें तो खुशी के पताशे बाँटना!' प्रभु ने उन के हृदय की प्रार्थना स्वीकार कर ली और ६० वर्ष का सम्बन्ध तोड़ कर मुझे अकेला छोड़ कर स्वर्ग सिधार गयीं!

व्याख्यान

अधिक विदुषी तो थीं नहीं। फिर भी जो व्याख्यान वह देती थीं वह होता था बड़ा प्रभावशाली। अपने प्रत्येक व्याख्यान में पतिव्रत धर्म की श्रेष्ठता का कुछ न कुछ अवश्य प्रतिपादन करने का उनका स्वभाव बन गया था। आजकल की बालिकाओं की चालढाल के विरुद्ध वह बहुत कहा करती थीं। लाहौर में जब अखिल भारतीय महिला सम्मेलन हुआ था तो उसके स्वागताध्यक्षा के आसन से महिलाओं की दशा सुधारने और प्रचलित कुरीतियाँ दूर करने के विषय पर दिया गया उनका अभिभाषण इतना प्रभावशाली था कि कई पत्रकारों ने उस पर अग्रलेख और सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखी थीं।

एक अन्य अवसर पर आर्य्य समाज डलहौज़ी के वार्षिकोत्सव पर वहां

की पुत्री पाठशाला की कन्याओं को पारितोषिक वितरण करते समय उन्होंने जो भाषण किया था उसको हमारे मित्र मास्टर श्री शिवदयाल जी एम० ए० सुनकर अत्यन्त गद्गद् होगये थे, उनकी अमित प्रशंसा की तथा हार्दिक आशीर्वाद दिया।

वैदिक सन्ध्या और हवन में उनकी बड़ी अनुरक्ति थी। भक्तिभाव के भजनों की रचना स्वयं भी करती थीं। सत्सङ्गों में प्रायः उन्हीं को प्रभु की प्रार्थना करने के लिये कहा जाता था। कारण, उनकी प्रार्थना हृदय के अन्तस्तल से निकली हुई श्रोताओं के हृदयों को हिला देती थी। गृह में भी वह बड़े प्रेम और भक्तिभाव से अपने भजन में बैठा करती थीं। अभ्यास करने और ध्यान में बैठने की उनकी बड़ी अभिरुचि थी। मैं जिन जिन महात्माओं के पास जाता तो वह तत्क्षण मेरे संग चल पड़तीं। उनकी तन्मयता और एकाग्रता इतनी बड़ी चढ़ी थी कि एकासन पर दो दो घण्टे तक ध्यानमग्न हो जाया करतीं।

नित्य कर्म्मानुशीलन

जिस आर्य्य सामाजिक कार्य्य को हाथ में लेतीं तो उसमें तन और मन से जुट पड़तीं और बड़ी निपुणता के साथ सम्पन्न करके ही छोड़तीं। स्त्री-समाज के उत्सवों की सफलताओं की श्रेयस्विनी वही हुआ करती थीं।

कर्म्मवीरता

मथुरा में श्रीमद्दयानन्द शताब्दी का जब महोत्सव हुआ तो उन्होंने विशेष भजनों की रचना करके स्त्री-समुदाय को साथ लेकर मंडली बनाई और मथुरा के प्रत्येक बाजार, गली, कूचे में प्रेम से उन भजनों को गा-गा कर एक अपूर्व रस पैदा किया। नगरकीर्त्तन में इन स्त्रियों के साथ मिल कर बड़ा कार्य्य किया।

दक्षिण हैदराबाद के सत्याग्रह के समय सत्याग्रहियों के जत्थों को उत्साह के साथ वीरता, कर्मठता और धर्म-परायणता की शिक्षा दे दे कर विदा करती थीं। धन तो कितना ही जमा करके भेज दिया था।

इस प्रकार मैंने आर्य-समाज का जो भी कार्य हाथ में लिया वह निरन्तर अनन्य अनुगामिनी बन कर मेरी अखण्ड सहायिका हो जातीं। देश के विभाजन के पश्चात् जब देहरादून आये और सभा ने मुझ को यहाँ के कन्या-गुरुकुल का मुख्याधिष्ठाता बनाया तब भी वह मेरी सहायिका रहीं। कन्या-गुरुकुल में जाकर निरन्तर निरीक्षण करतीं और अपनी अटूट लगन तथा निष्ठा के फलस्वरूप कई सुधार कर दिये। जब वह वहां जाती थीं तो समस्त छात्राएँ 'माता जी, माता जी' कह कर उनके चारों ओर एकत्र हो जातीं और कोई कष्ट हो तो खुले हृदय से कह दिया करती थीं। भोजन की व्यवस्था भी अच्छी हो गयी। स्वयं भोजनशाला में जाकर खानपान की कई वस्तुएँ अपने हाथ से बना कर पाचकों को दिखलाया करती थीं। और यदि कोई त्रुटि होती तो उसका उसी क्षण सुधार कर दिया करती थीं।

सदाचार से प्रेम

सदाचार से उनको विशेष प्रेम था वह सदैव ऐसी स्त्रियों की सहायता करने को उद्यत रहती थीं जिनके आचार-व्यवहार श्रेष्ठ पाये जाते थे। इस बात का तनिक पता लग जाने पर कि अमुक व्यक्ति आचारहीन है, तो उनकी सारी सहानुभूति तत्काल समाप्त हो जाती थी। स्त्री-जाति पर कहीं कष्ट देखतीं, तो उसके निवारणार्थ वहीं दौड़ पड़तीं। उनका जीवन अनेक शिक्षाप्रद घटनाओं से ओतप्रोत था। यहाँ तो स्थानाभाव के कारण उनके जीवन का दिग्दर्शन मात्र इस पुस्तक की भूमिका के रूप में कर दिया है।

विशेष वक्तव्य

मैं अपने कर्त्तव्य-पालन से पराङ्मुख रहूँगा यदि मैं यह वर्णन न करूँ कि मुझे उन्हीं के कारण यह सम्पत्ति प्राप्त हुई है। जब मैंने कार्य्य आरम्भ करना चाहा तो मेरे पास कुछ भी नहीं था। पिताजी की तो यह

इच्छा थी कि मैं ज़िलेदारी के वास्ते प्रयत्न करूँ। अन्तमें मैं अपनी देवी (धर्मपत्नी) को साथ लेकर लाहौर चला गया और रेलवे विभाग में १५) रुपये मासिक वेतन पर कार्य्य करने लगा कि और नहीं तो कम से कम दाल-रोटी तो चलती रहे और अपनी इच्छानुसार मैं औषधालय भी चला सकूँ। उस समय औषधियाँ बनाने और उन्हें विज्ञापित करने के लिए भी तो रुपये नहीं थे। मैंने जब श्रीमती जी से बात चलाई तो उन्होंने झट-पट अपने सर्व आभूषण, जो साधारण ही थे, मेरे सम्मुख समर्पित कर दिये। उनमें से मैंने चांदी का एक आभूषण उठा लिया और बाजार में जाकर २७) रुपये का बेच डाला। उस देवी के इन्हीं २७) रुपयों का यह सब प्रताप है कि औषधालय का कार्य्य दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करता चला गया और प्रभु की कृपा से चाँदी के एक आभूषण के स्थान पर उनके पास स्वर्ण और बहुमूल्य रत्नों के कई आभूषण हो गये। उनके देहान्त के समय उनकी अपनी सम्पत्ति कोई दो अढ़ाई लाख रुपयों की थी जो कि सरकार की इस्टेट ड्यूटी चुका देने के बाद उन्हीं के नाम पर बाँट दी जायेगी।

प्रभु उनकी आत्मा को उच्चगति-प्रदान करें और वह मुक्ति की भागी बनें।

आपका स्वास्थ्य अभी बड़ा अच्छा था, ५० वर्ष से भी कम आयु की लगती थीं। १३ अप्रैल १९५४ को हम दोनों गुरुकुल कांगड़ी के वार्षिकोत्सव पर गये। मैं कुछ अस्वस्थ था, परन्तु गंगा के शीतल जल में हम दोनों ने स्नान किया। मुझे ज्वर होगया, जो था तो मन्द ही किन्तु उन्होंने उसको बड़ा अनुभव किया और कहने लगीं कि हे प्रभु! इन्हें ज्वर क्यों होगया, मुझ को ही हो जाता? बारम्बार वह इसी वाक्य को दोहराने लगीं। १७ अप्रैल को सचमुच उनको भी ज्वर होगया। मेरा मन्द ज्वर जारी रहा। किन्तु उनका ज्वर तो तीव्र रूप धारण करता चला गया। चिकित्सा तो अपनी ही थी, २२ अप्रैल को न्युमोनिया के

लक्षण दृष्टिगोचर हुए तो एक सम्बन्धी ने ऐलोपैथिक डाक्टर को बुलाने का आग्रह किया। डाक्टर बुलाये गये। उन्होंने आते ही 'पेनिसिलिन' का इंजैक्शन दे दिया। शाम तक ज्वर बहुत तीव्र होगया। अगले दिन फिर इंजैक्शन दिया गया और २३ अप्रैल को सायंकाल तक उनकी दशा और अधिक बिगड़ गयी। मूर्छित-सी होकर बोलना भी बन्द कर दिया। पर, जिह्वा कुछ कुछ हिल रही थी। ऐसा ज्ञात होता था कि मानो कोई जाप कर रही हैं। इस पर परामर्शार्थ दो तीन प्रसिद्ध डाक्टर और बुला लिये गये। उन्होंने भी एक या दूसरा इंजैक्शन देना आरम्भ किया। अब तो रही सही संज्ञा भी जाती रही और २४ अप्रैल को मध्याह्नोत्तर ४ बजे जब कि इंजैक्शन लग रहा था वह इस असार संसार को छोड़ रही थीं। मैंने डाक्टर साहेब को कहा डाक्टर जी, अब किस को इंजैक्शन लगाते हो? यह तो जा रही हैं। अन्त में नीचे उतार ली गयीं और तीन चार श्वाँस लेकर सदा के लिए मौन होगयीं!

दोपहर को जिस समय इंजैक्शन लग रहा था उस समय मैंने उनकी बाँह बलपूर्वक पकड़ रखी थी कि कहीं हिला न दें। उसी समय उन्होंने ज़ोर से दो तीन बार कहा— "बाबू जी, मेरी बाँह छड देओ।" इस से समीपस्थ व्यक्तियों की धारणा यह है कि वह अन्तःसंज्ञ—अपने अन्तर में सचेत एवं सज्ञान थीं, और इस संसार से नाता तोड़ कर हृदयस्थ प्रभु से लौ लगाये हुई थीं। यह बात थी तो वास्तव में उन्होंने बहुत अच्छा किया। ईश्वर उन्हें सद्गति प्रदान करें।

ऐसी ही एक घटना एक बार पहले हो चुकी थी। वह अपने एक सम्बन्धी के घर गयी हुई थीं। मेरी इच्छा उपवास पर परीक्षण करके उसका प्रत्यक्ष अनुभव स्वयं करने की थी। यह अवसर हाथ में आया देख कर मैंने उपवास करना आरम्भ कर दिया। केवलमात्र जल पिया जाता था, अन्य कुछ भी खाया पिया नहीं जाता था। पाँच दिन के बाद वह लौट आयीं। मेरे भोजन कर चुकने के बाद ही भोजन करने का उनका

नित्य का अखण्ड नियम था। उन्होंने मेरा उपवास व्रत देख कर कहा—"आपने व्रत रखा है तो मैं भी रख लूँगी।" मैंने यह विचार करके कि इससे उनको भी लाभ होगा उनकी आग्रहपूर्ण बात मान बैठा। इसके ५ दिन के पश्चात् अर्थात् मेरे उपवास-व्रत के दसवें दिन उन्हें वमन होने लगीं। किसी प्रकार बन्द नहीं होती थीं। दो दिन तक प्रतीक्षा भी की। जब वह अत्यन्त दुर्बल हो गयीं तो मैंने उनके सम्मुख ही संगतरे का रस पी लिया और उनको भी पीने के लिए कहा। पिया तो सही किन्तु पचा नहीं। अनेक उपाय किये गये पर किसी में भी सफलता नहीं मिली। हर समय मैं उनके सिरहाने बैठा-बैठा प्रभु से प्रार्थना करता रहा—"हे प्रभु! इस समय इनकी मृत्यु न होवे। यह बात तो मुझ पर आती है। यदि इनकी आयु नहीं है तो फिर कभी ले जाना, अब तो स्वस्थ कर दीजिए।" शरीर अस्थिओं का ढाँचा मात्र रह गया था, संज्ञा (चेतना) भी जाती रही। बाहर से कोई देखे तो यही समझे कि एक शव पड़ा हुआ है। आयु शेष थी, दयालु प्रभु ने प्रार्थना स्वीकार करने की दया की। तीसरे दिन वमन बन्द हो गयीं और धीरे-धीरे स्वस्थ होने लगीं, शक्ति भी लौट आयी। उस समय उन्होंने कहा था—मुझे ऐसा लगता था कि मैं शरीर-त्याग कर रही हूँ, किन्तु थी मैं बड़े आनन्द में। किसी से मोह नहीं था। राग भी किसी से नहीं था। एकमात्र इसी आह्लाद-तरंग में थी कि मैं अपने पतिदेव की गोद में चली जा रही हूँ।

इस घटना का स्मरण करके अब भी यह विचार होता था कि स्यात् उसी आनन्द में इस बार भी शरीर छोड़ा हो। प्रभु अपनी कृपा करें कि हमें भी शरीर छोड़ते समय—

'न शोक हो न मोह हो न ममता किसी में,
न पीड़ा हो तन को न कुछ दुःख-भान हो।'

अस्तु। उन्होंने मुझ से जो कुछ शिक्षा प्राप्त की थी उनका पूरा-पूरा उपयोग किया। सन्ध्या और हवन दैनिक किया करती थीं। वेद के

मन्त्रों का उच्चारण शुद्ध करती थीं। स्वस्तिवाचन तथा शान्ति-पाठ कंठस्थ थे। गीता के भी कुछ श्लोक याद कर लिये थे। अन्तिम दिनों में वह ईशावास्योपनिषद् के मन्त्रों को याद कर रही थीं इसी बात को सम्मुख रखकर मैंने यह उचित समझा है कि उनके द्रव्य से अन्य यादगारें तो स्थापित होंगी ही, साथ ही एक आध्यात्मिक यादगार भी संस्थापित कर दी जाय।

ईशावास्योपनिषद् सब उपनिषदों का मूल है, क्योंकि यह यजुर्वेद का ४०वाँ अध्याय है और रहस्य से भरपूर है। इस पर बहुत-सी टीकाएँ और भाष्य लिखे गये हैं जिनके मनन करने धर्म्म के गूढ़ तत्व हमारे आगे आ जाते हैं। पंडित श्री रघुनाथदत्त जी बन्धुः शास्त्री उन्हें मातृ-वत् प्रेम करते थे। अतः शास्त्री जी से मैंने कहा कि वह ईशावास्योपनिषद् की व्याख्या धर्मप्रेमियों के वास्ते लिख दें। उन्होंने मेरी बात मान कर यह पुस्तक उनकी स्मृति में परिश्रम-पूर्वक लिख दी है।

—:o:—

ईशावास्य मन्त्र की महानता

शास्त्री जी ने पहले तो ऋषि दयानन्द के भाष्य को लिख दिया है। स्पष्टीकरण के लिए कहीं-कहीं टिप्पणी दे दी है! इसके पश्चात् प्रसिद्ध आचार्यों के भाष्य भी दे दिये हैं। द्वैतवाद और अद्वैतवाद के आचार्यों के भाष्य में बड़ा अन्तर पाया जाता है। इस पुस्तक में समस्त भाष्यों का ही सारांश दे दिया है जिससे यह सब विद्वानों के पूर्णरूपेण अध्ययन के लिए स्मारक स्वरूप हो जाय।

वेद का ज्ञान अनन्त प्रभु की वाणी होने से अनन्त है। इसलिए किसी का किसी एक मन्त्र के भी सम्पूर्ण रहस्य को पूर्णरूप से समझ लेने का दावा करना ठीक नहीं है।

ईशोपनिषद् के एक-एक मन्त्र की व्याख्या पर अपनी-अपनी बुद्धि

के अनुसार एक-एक विस्तृत ग्रन्थ लिखा जा सकता है। एक-एक मन्त्र में मनुष्य के कर्त्तव्य कूट-कूट कर भरे हैं मानों गागर में सागर समा गया है। इसी बात को दर्शाने के लिए मैं एक दो मन्त्रों की थोड़ी-सी व्याख्या अपनी बुद्धि के अनुसार लिखता हूँ। केवल पहिले मन्त्र की पूरी व्याख्या जो मुझे सूझती है उसको ही करने लगूँ तो बड़ी पुस्तक बन जायगी। अतः, दो तीन मन्त्रों की ही थोड़ी-थोड़ी व्याख्या इसलिए लिख देता हूँ कि पाठकगण भी इन मन्त्रों पर विचार करके अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार रहस्यार्थ समझ सकें। भाष्यकार तो केवल मन्त्र के अर्थ और थोड़ी-सी व्याख्या कर देते हैं। उन पर मनन करना तो पाठकों का काम है। ऋषि दयानन्द ने जो भावार्थ लिखे हैं उन से बहुत-से संकेत उपलब्ध होते हैं। केवल प्रथम मन्त्र के भावार्थ में ही देखिये ऋषि दयानन्द लिखते हैं:—'इस मन्त्र के आदेशों पर ही आचरण करने से मनुष्य धर्मात्मा होकर इस लोक के सुख और परलोक में भी मुक्तिरूप सुख को प्राप्त करके सदा आनन्द में रहते हैं।'

इस प्रकार एक मन्त्र को भी यदि कोई व्यक्ति अपने आचरण में स्थापित कर ले तो उससे मुक्ति तक प्राप्त होती है। ऋषि ने अध्याय के अन्त में जो सारांश लिखा है वह दिल लगा कर पढ़िये। श्रीमती पूर्णदेवी हर समय सदाचार और धर्म्म का राज्य इस भूमण्डल में देखना चाहती थीं। प्रभु करें कि यह पुस्तक जो उनकी पुण्य स्मृति में लिखी जा रही है अधिक से अधिक नर-नारियों को सदाचार एवं धार्मिक कृत्यों की ओर प्रेरित करे।

अब आप पहिले मेरे विचारों को पढ़ कर विचार कीजिए। तदुपरान्त आचार्य्यों के भाष्य पढ़ कर अपनी बुद्धि को विस्तृत कीजिए।

ठाकुरदत्त शर्म्मा वैद्य

अमृतधाराभवन
देहरादून

ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र
की
थोड़ी-सी व्याख्या

"ईशावास्यमिद ॐ सर्वं यत्किञ्च जगत्याम् जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' ॥

(१) **इस मन्त्र का पहिला भाग** प्रभु की महानता का दिग्दर्शन कराता है। यह सब कुछ अर्थात् समस्त ब्रह्माण्ड ईश्वर से व्याप्त है। ईश्वर सब के अन्दर है और सब कुछ ईश्वर के अन्दर है। वह अन्तर्यामी रूप से सदैव सब को देखता है और समस्त संसार को न्याय तथा नियम में रखता तथा सबको कर्म्मों का फल प्रदान करता है। ईशावास्योपनिषद् का शान्ति मन्त्र—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते,
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।

भी इसी भाव का द्योतक है। प्रभु स्थान-स्थान पर परिपूर्ण ही है। यहाँ, वहाँ, सर्वत्र पूर्ण है। उसका भाग नहीं हो सकता। कारण. पूर्ण (Infinite) में से पूर्ण निकाल कर भी शेष पूर्ण ही रहता है। वेद में अन्य स्थल पर आया है कि समस्त ब्रह्माण्ड प्रभु के एक पाद में है और उसके तीन पाद अमृत-स्वरूप हैं। कितना वह महान् है जिसने इस समस्त संसार की रचना करके उसको न्याय, नियम में रखा हुआ है।

इदं सर्वं—'यह सब कुछ' कितना है ? आज तक कोई भी न जान सका है, न जान सकेगा। और फिर, यह सब कुछ तो उसके एक पाद में

१. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि ऋ १०।९०।३

ही है ! ब्रह्माण्ड को विद्वानों, तत्वज्ञों, योगियों ने जानने की जितनी चेष्टा की उससे वे अभी तक इसका अन्त नहीं पा सके। गुरु नानकदेव ने स्यात् समाधि में ही बैठ कर ये शब्द कहे थे—'लख अकासाँ अकास लख पतालाँ पताल।' जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं वह हमारे सूर्य्य से १० करोड़ मील दूर है। प्रकाश की गति का अनुमान १६००० मील प्रति सेकंड लगाया गया है। हमारे पास सूर्य्य का प्रकाश कोई ८ मिनिट में पहुँचता है। अर्थात्, जब सूर्योदय होता है तो उसके ८ मिनिट के पश्चात् हमें दृष्टिगोचर होता है। अनुसन्धान करने वाले विद्वानों ने लिखा है कि इस ब्रह्माण्ड में ऐसे भी ग्रह हैं जिनका प्रकाश हमारी पृथ्वी तक पहुँचने में १५ से लेकर १५ लाख वर्ष तक लग जाते हैं। जिस प्रकाश की गति प्रति सैकंड १८६००० मील है वह एक दिन में ही १६ अरब मील से अधिक चला जाता है और एक वर्ष में तो मानव गणना के परिमाण को लांघ जाता है। फिर १५ लाख वर्षों में कितनी दूर चला होगा—यह सोच कर मस्तिष्क चकरा जाता है। और फिर कौन जाने कि इसके परे भी कोई जगत्, ग्रह, नक्षत्र हैं या नहीं, एक विद्वान् का यह कथन है कि कोई ऐसा ग्रह भी है जिसका प्रकाश १४ करोड़ वर्षों में हमारी पृथ्वी तक आता है और अभी-अभी एक फिलासफ़र ने कहा है कि जितना हम जानते हैं सृष्टि उससे परे भी है। और इतनी दूर जो सृष्टियाँ हैं वे कितनी महान् होंगी—इसको मानव का चमत्कृत से चमत्कृत मस्तिष्क भी कल्पना में नहीं ला सकता। हमारी पृथ्वी से सूर्य्य इतना बड़ा है कि उसके अन्दर १३ लाख ५ हजार पृथिवियाँ समा सकती हैं। हमारे सूर्य्य के चारों ओर जो ग्रह, नक्षत्रादि घूम रहे हैं उसको Solar System कहते हैं। इसके परे भी और न जाने कितने Solar Systems हैं ? एक ऐसे सूर्य्य की खोज हुई है जिसका नाम पाश्चात्य ज्योतिर्विदों ने 'एँट्रस' रखा है। यह इतना बड़ा है कि इसमें हमारे सहस्रों सूर्य्य खप सकते हैं। इस सूर्य्य चक्र का अन्त हमें नहीं आता, आगे की क्या कहें—

हमारी पृथिवी सूर्य्य की परिक्रमा ३६४$\frac{१}{४}$ दिन में समाप्त करती है ही। शुक्र सात महीने में, मंगल २ वर्ष में, शनि २९$\frac{१}{२}$ वर्ष में, युरेनस २४ वर्ष में, नैपच्यून १६५ वर्ष में, प्लुटो २४$\frac{१}{२}$ वर्ष में समाप्त करता है।

वैज्ञानिकों का कथन है कि उत्तर दिशा में जो 'ध्रुव' नक्षत्र दिखायी पड़ता है उसके मुकाबले में दक्षिण दिशा में भी एक ध्रुव है जो दृष्टिगोचर नहीं होता है। इन दोनों ध्रुवों के चक्र में समस्त सृष्टियाँ घूम रही हैं। किन्तु यह भी एक नहीं। उत्तरी ध्रुव किसी दूसरे चक्र का दक्षिणी है और दक्षिणी ध्रुव किसी अन्य चक्र का उत्तरी है। इसी प्रकार चारों दिशाओं को और फैलाते जाइये, कहीं भी अन्त नहीं होगा हमारा ध्रुव भी हम से कितनी दूर है, कहते हैं कि सूर्य्य ध्रुव के स्थान पर चला जावे तो दिखाई भी न देवे। यह अनन्त ब्रह्माण्ड उस अनन्त प्रभु के एक पाद में है। कितने अनभिज्ञ हैं वे लोग जो यह कहने लगते हैं कि यह महान् सृष्टि यूँ ही बन गयी है, कोई भी इसका न निर्माता है और न नियन्ता। इस अद्भुत् संसार के विषय में बीसियों बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखी गयी हैं और लिखी जा रही हैं। एक-एक ग्रह, नक्षत्र और एक-एक सृष्टि का वर्णन पढ़ने से ही मनुष्य चकित रह जाता है। अपनी पृथ्वी को ही देखिये। इसके भीतर क्या-क्या भरा पड़ा है? सूर्य्य का प्रकाश देने वाली धातुओं में कितना ताप और प्रकाश है कि १० करोड़ मील पर आकर हमें गर्म करती हैं और ऐसा प्रकाश देती हैं कि उसकी अपेक्षा कोई अन्य प्रकाश दृष्टिगोचर नहीं होता। उसमें से जो-जो गैसें छूटती हैं वे १५ लाख मील सूर्य्य से बाहर आ जाती हैं। इतनी दूर की बात तो दूर ही रही, हम यदि अपने शरीर के ही चमत्कार देखने लगें तो चकित हो जाते हैं। आँख, नाक, कान, मस्तिष्क आदि की रचना देखिये—पृथक्-पृथक् वर्णन करने के लिए पृथक् ग्रन्थ की आवश्यकता पड़ेगी। समस्त ब्रह्माण्ड के एक-एक परमाणु के अन्दर वह महान् प्रभु विराजमान है और पूर्णतया विराजमान है, सबको अपने-अपने नियम में चला रहा है। उसकी सत्ता

न मानने वाले मनुष्य उसकी महानता को समझें और उस पर विश्वास करें। कारण, हमारी पृथ्वी ही, जिसके समस्त रहस्य को हम पूर्णतया नहीं जान सकते, इस ब्रह्माण्ड में उतनी-सी भी न होगी जितना हिमालय पर्वत के आगे ख़शख़ाश का एक दाना होता है। हे मिथ्याभिमानी ! उस महत्तम शक्ति को भुलाकर तू स्वयं ही प्रभु क्यों बनता है ?

लेख के बहुत बढ़ जाने के भय से मैं प्रथम उपदेश को यहीं समाप्त करता हूँ।

(२) **इस मन्त्र का दूसरा भाग** एक अन्य गूढ़ रहस्य को प्रकट करता है **'यह सब जगत् में है'** ('जगत्याम् जगत्')। दो बार 'जगत्' शब्द प्रयुक्त होने का कुछ प्रयोजन है। 'जो भी जगत् है वह गतिवान् जगत् में है'। इन शब्दों से वेद भगवान् हमें यह रहस्य बतलाता है कि इस जगत् में प्रत्येक वस्तु 'चल' है, कोई भी अचल, स्थिर नहीं है। समस्त ब्रह्माण्ड चल रहा है, घूम रहा है। अपनी पृथ्वी का ही उदाहरण लीजिये। यह सूर्य्य के चारों ओर घूम रही है। किन्तु, सूर्य्य क्या स्थिर है। वह भी अपनी धुरी पर अपने चारों ओर तथा अपने चक्र में भी घूमता है ! पृथ्वी सूर्य्य की परिक्रमा करती हुई अपने चारों ओर भी घूम रही है। इसी प्रकार इस सूर्य्य-मण्डल (Solar system) के नक्षत्र चाँद, तारे सब घूमते हैं। और सब मिलकर सूर्य्य समेत फिर एक ध्रुव के चक्र में घूमते हैं।

पृथ्वी के अपने चारों ओर एक चक्कर लगा लेने से दिन-रात बनता है और सूर्य्य की परिक्रमा करने से एक वर्ष बन जाता है। यह सब कुछ ऐसी कुशलता से सम्पन्न हो रहा है कि हमें यह भी पता नहीं लगने पाता है कि तीन प्रकार की गतियाँ कार्य कर रही हैं। सूर्य्य की परिक्रमा करती हुई पृथ्वी ५८ सहस्र मील प्रति घंटा की गति से चल रही है। यह पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती भी जाती है और ५८ हजार मील प्रति

घंटे की चाल से दौड़ती भी जाती है। हमें तनिक भी भान नहीं होता कि हो क्या रहा है ?

हमें स्थिर प्रतीत होने वाली प्रत्येक वस्तु क्या वस्तुतः स्थिर है ? नहीं, कदापि नहीं। प्रत्येक वस्तु जिन परमाणुओं द्वारा निर्मित है उनमें हर घड़ी गति है। वैज्ञानिकों ने खोज की है कि प्रत्येक परमाणु-भाग (त्रस-रेणु—Atom) अपने आप में एक सूर्य्य मंडल (Solar System) है। प्रत्येक ऐटम् के केन्द्र में एक इलैक्ट्रोन् (विद्युतांश) होता है जिसके चारों ओर अनेक विद्युतांश चक्कर लगाते हैं ?—यह जानकर अपना ही मस्तिष्क चक्कर खाने लगता है। एक सैकंड में एक शंख बार।

इतना कुतूहल जिस ऐटम् में हो रहा है वह स्वयं कितना बड़ा है ? वैज्ञानिक कहते हैं कि यदि १० खर्व एटमों के १० खर्व बंडल बनाये जायँ तो उनका तौल केवल एक ड्राम (लगभग ३॥ माशे) होगा। ऐटम बम का निर्माण इन्हीं ऐटमों को तोड़ने से हुआ है। प्रकृति के इस प्रबन्ध को तोड़ कर वे एक दूसरे के अस्तित्व को भंग करते हुए एक प्रकार से प्रलय के जैसा दृश्य उपस्थित करते हैं ! प्रलयोपरान्त जब प्रभु सृष्टि की रचना करता है तो प्रकृति में एक कम्प उत्पन्न करता है जिस से सूक्ष्म प्रकृति का प्रत्येक भाग अचल से चल हो जाता है। यह कम्प कोई ५ अरब वर्षों तक, आगामी प्रलय के आने के समय तक, रहता है। स्वयं आकाश भी जिसमें यह सब कुछ गतिमान है, स्थिर नहीं है।

आकाश (Ether) में आन्तरिक तरंगें प्रति सैकंड २४ अरब ३० करोड़ कही जाती हैं। इन्हीं तरंगों पर आरोहण करके तो रेडियो का शब्द समस्त पृथ्वी पर क्षण भर में ही परिभ्रमण कर आता है। वेद तो एक नियम का वर्णन कर देता है। उसकी प्रदत्त बुद्धि द्वारा यह मनुष्य कुछ का कुछ विस्तार करता जाता है। समस्त सृष्टि का निर्माण इन एटमों में घूमने वाले इलैक्ट्रोनों से हुआ है। अर्थात् समस्त ब्रह्माण्ड विद्युन्मय है। इन्हीं कीभिन्नता से हमें पदार्थ भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होता है। इनकी घूमने

वाली संख्या से प्रत्येक वस्तु का निर्माण होता जाता है। इस छोटे से लेख में सब की व्याख्या कैसे की जा सकती है? यहाँ तो मैंने इतना दर्शा दिया है कि 'जगत्याम् जगत्' कहने का क्या रहस्य है? जगत् में कोई वस्तु भी स्थिर नहीं है। अतएव दो बार 'जगत्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'जगत्' का शाब्दिक अर्थ ही है 'गति करने वाला'। इस भाग से मुख्य उपदेश यह मिलता है कि प्रभु की महत्ता को मनुष्य समझे और सदैव उसका स्मरण रखे, उसकी भक्ति में अपना मन लगावे और हर घड़ी यह विचार रखे कि उसके सब कर्म्मों को प्रभु देख रहा है। वह सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सृष्टिकर्त्ता और सब का स्वामी है। उसी की उपासना करने योग्य है।

(३) इस मन्त्र का तीसरा भाग है—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'

इसका यह भाव है कि इस चराचर जगत् में बहुत कुछ भोग्य पदार्थ ईश्वर ने उत्पन्न किये हैं जिन्हें मनुष्य त्यागभावना से भोगे, अर्थात् अपना मन इन भोगों से ऊपर, निर्लिप्त रखे। इस जगत् में जो कुछ उत्पन्न हुआ है उसको खान, पान, आहार, व्यवहारादि के भोगों में भोगना ही है। परन्तु भोगना किस प्रकार चाहिये?—इसके लिए प्रभु आज्ञा करता है कि हे अमृत-पुत्र! विपुल सामग्री तेरे लिए बना दी है, इसका भोग कर, परन्तु इन भोगों में लिप्त न होना। इसका परिणाम यह होगा कि मनुष्य उसी को भोगेगा जिससे उसका पतन न हो सके। एक साधारण उदाहरण देता हूँ—भोजन तो प्रत्येक मनुष्य को करना है। स्वाद भी उसमें आता ही है। परन्तु एक व्यक्ति स्वाद के लिए ही खाता है तो अच्छी या बुरी जो चीज़ उसको स्वादिष्ट लगती है उसे ही खाता जायगा। दूसरा व्यक्ति त्याग भाव से खाता है तो वह उसी वस्तु को खायगा जो उसके लिए हितकर हो। वह केवल स्वाद के पीछे नहीं दौड़ेगा। जिन लोगों को जीभ का चसका लग गया है वे रोग की अवस्था में भी अपथ्य का त्याग नहीं कर सकते। जिन दिनों मैं

स्विट्ज़रलैंड में था तो वहां यह ज्ञात हुआ कि अमेरिका के कई मनुष्य वहाँ केवल समुद्री कैंकड़े खाने के प्रयोजन से आते हैं जो उस देश में अद्भुत रीति से तले जाते हैं। इंगलैंड में भी एक बार सागर तट पर एक ऐसे व्यक्ति को देखा था जो समुद्र में भी रस्सी डाल कर एक प्रकार के छोटे-छोटे कीड़े निकाल कर उसी क्षण चाकू से चीरता जाता था। मैंने उससे कहा—'ये तो जल से बाहर आकर थोड़ी देर में आप ही मर जाते हैं, इनके चीरने की क्या आवश्यता थी।' उसने तत्क्षण उत्तर दिया—'फिर वह स्वाद नहीं रहता है, इन्हें तुरन्त ही चीर डालना चाहिए।' इस पर मैंने पूछा कि आपका सालन कितनों से बन जायगा ? उसने कहा '५०० काफी होंगे।' चीन में चूहों का अचार डाला जाता है। पट्टी, जिला अमृतसर के एक स्कूल मास्टर मौलवी साहेब रोटी पर पतला गुड़ लगा कर रात्रि के समय चींटियों के निकट रख दिया करते थे और भोर होते ही चींटियों के समेत रोटी खाते जाते और कहते जाते थे कि खटमिठ (खट्टी-मीठी) बड़ी ही स्वादिष्ट लगती हैं।

प्रत्येक मनुष्य धन संचित करता है। यदि उसमें त्याग की भावना नहीं है तो उसके छोड़ने पर अत्यन्त दुःखी होता है। बैंक का कोई क्लर्क लाखों का हिसाब और रुपयों की रखवाली करता है। एक पैसा भी कम नहीं होने देता। उसका तबादला अन्यत्र हो जाय तो बैंक का धन छोड़ते हुए रोता-धोता नहीं है। कारण, वह उस धन का त्याग भाव से रख-वाला था।

कोई धाय किसी धनाढ्य के बच्चे को पालती है। प्यार करते हुए भी जब मालिक लेना चाहे उसको दे देती है। यदि कोई अपनी सन्तान के प्रति भी यही भाव रखे कि वह मेरा नहीं, प्रत्युत प्रभु की देन है तो उसे प्रभु को लौटाते समय कोई वेदना नहीं होगी। जो लोग जगत् में त्यागभाव से नहीं रहते, वे इन्द्रियों के दास हो जाते हैं। इन्द्रियाँ अवश हो गयीं तो मन भी अवश हो जाता है जिससे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। अतएव मनुष्य को

इस संसार में इस प्रकार रहना चाहिए जिस प्रकार कमल का पत्ता जल में रहता हुआ जल के ऊपर रहता है, जल का उस पर कुछ स्पर्श और प्रभाव नहीं होता। मनुष्य भी जगत् में रहे, परन्तु जगत् से ऊपर अलिप्त भाव से रहे। अपने कर्त्तव्य कर्म का पालन करता हुआ, प्रभु की आज्ञा का अनुसरण करता हुआ जगत् की वस्तुओं का भोग करे। इस आदेश में मनुष्य की जीवन-नीति का पूरा उपदेश है। बुद्धिमान् इस पर विचार करें। अधिक वर्णन इस छोटे लेख में नहीं किया जा सकता है।

(४) इस मन्त्र का चौथा आदेश—'मागृधः कस्य स्विद्धनम्।' इसका अर्थ कोई तो यह करते हैं कि 'लालच मत कर, धन किसका है?' इसका अभिप्राय यह भी हो सकता है—'यह सोच कि धन किसका है? यदि तेरा नहीं है तो उसका लालच मत कर। जिसका धन है, जिसका अधिकार है, उसी को दे दे।' दूसरा अर्थ यह है कि किसी के धन या पदार्थ का लालच मत कर, उसकी अभिलाषा मत कर।' कितना सुनैहरा उपदेश है यह? इसका पालन करने से संसार में कोई युद्ध, विग्रह होना असम्भव है। सब झगड़े तो प्रायः इसलिए होते हैं कि एक दूसरे के धन, भूमि और स्त्री का लालच करता है अथवा उसके किसी अधिकार को छीनना चाहता है। सामान्य व्यक्तियों के ही नहीं अपितु राजाओं और राज्याधिपतियों के झगड़े भी प्रायः इसीलिए होते हैं।

दान धर्म्म

इन शब्दों में मनुष्यों के अन्य कर्त्तव्य भी निहित हैं। मान लीजिये—एक व्यक्ति किसी के पास कोई धरोहर रख जाता है। यदि वह वापस न करे तो यह भी चोरी ही समझी जाती है। यह भी दूसरे के धन का हरण कर लेना ही है। वेद और शास्त्रों में धन कमाने के साथ-साथ उसका दान करना भी एक कर्त्तव्य लिखा है। यूँ समझना

चाहिये कि उसके पास दूसरों की धरोहर है। यदि वह उसको दान में नहीं लगाता है तो वह उस धरोहर का दुरुपयोग करता है, उसकी अपने लिए चोरी करता है। शास्त्रों के अनुसार अपनी कमाई का अधिक नहीं तो दसवाँ भाग दान करना चाहिये। जो मनुष्य मासिक १००) रुपये कमाता है, उसमें ९०) रुपये तो उसके अपने हैं और शेष १०) रुपये हैं असहायों की सहायता, विद्या प्रचार, धर्म प्रचार आदि सत्कार्य्यों में लगाने के लिए। इन १०) रुपयों में से कोई यदि अपने ही उपभोग में लाता है वह चोरी करता है। अधिक दान करने वाला महान् पुरुष है। ऋषि दयानन्द 'व्यवहार भानु' में लिखते हैं—'अपने धन को इन ४ कार्य्यों में लगाओ—(१) विद्या की वृद्धि, (२) परोपकार (३) अनाथों का पालन और (४) अपने सम्बन्धियों की रक्षा। प्रथम तीनों काम दान द्वारा ही होंगे।

यज्ञ-हवन

और लीजिये श्रीकृष्ण महाराज भी गीता में कहते हैं:—

'इष्टान् भोगान् हि वो देवा, दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो, यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥'

अर्थात्—इस सृष्टि में देवता (अग्नि, वायु, जल, पृथिवी आदि) मनुष्यों के साथ इसी हेतु उत्पन्न किये गये हैं कि एक दूसरे को प्रसन्न रखे और एक दूसरे की रक्षा करे। अतएव—

'यज्ञ से प्रसन्न हुए ये देवता इष्ट भोगों को देते हैं। उनकी दी हुई वस्तुओं को उन्हें दिये बिना जो मनुष्य भोगता है वह चोर ही है।'

हमें खाने-पीने की वस्तुएँ इन्हीं देवताओं से प्राप्त होती हैं और हम जो यज्ञ करते हैं अथवा सृष्टि में जो स्वतः यज्ञ होते रहते हैं उन्हीं से सब वस्तुएं उत्पन्न होती हैं। अतएव उनकी दी हुई वस्तुओं को उन्हें देकर ही भोगना चाहिए। उन्हें दिये बिना जो कोई भोगता है उसको

श्रीकृष्ण महाराज चोर कहते हैं। इसी से दैनिक हवन, यज्ञ करना हमारा कर्त्तव्य है जिससे अन्न, औषधियाँ, फल, घृत सब अग्नि में जाकर अग्नि, जल और पृथिवी को प्रसन्न करें और फिर वे देवता (अग्नि, जल आदि) प्रसन्न होकर हमें उत्तम भोग्य पदार्थ प्रदान करें। प्राचीन भारत में तो घर में जब नया अन्न आता था तो उससे यज्ञ करने के पश्चात् ही उसे अपने सेवन में लाया जाता था। इसी को **'नवान्नेष्टि यज्ञ'** कहते हैं। इस परिपाटी के उठते जाने से दुःख भी बढ़ते जाते हैं।

श्री गुरु गोविन्दसिंह जी के पास जिस समय लोग यह दुःख प्रकट करने आये थे कि देश में दुर्भिक्ष, महामारी और अधर्म की वृद्धि हो रही है तो उन्होंने बड़ा भारी हवन यज्ञ रचाया था। उन्होंने कहा था :—

'यह तो धर्म हमारो सार, कहत रहे नृप मुनि अवतार।
सो तो हम भी करना चाहैं, जिससे सब सृष्टि सुख पाहैं।
एक तो अब दुर्भिक्ष अति भारी, है पड़ रह्यौ, न बरसत वारी।
दूसरे, भारतवर्ष मझारे, महामरी पड़ रह्यौ अपारे।
तीजे जो नर-नारी आरज, हो रहे निज धर्मों से ख़ारज।
पाप कर्मन में सब हैं लागे, इसी हेत बन रहे अभागे।
यज्ञ हवन अरु सुकृत जो हैं, हाकिम तुरक करन नहिं दै हैं।
मिल कर सब ही यज्ञ रचावैं, महामरी दुर्भिक्ष नसावैं।
शुद्ध हवन से पवन होवे है, रोग शोक सब ही खोवे है।

और रहस्य

'मागृधः कस्य स्विद्धनम्' में कितने रहस्य भरे हैं? सदाचार की पूर्ण शिक्षा इसी से मिलती है।

मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु, यः पश्यति स पश्यति॥

किसी के अधिकार को न छीनने वाला पुरुष सब स्त्रियों को माता के समान जानता है; इसी प्रकार स्त्री सब पुरुषों को पिता, भाई और पुत्र के समान जानती है। वे किसी को दुःख नहीं पहुँचा सकते, क्योंकि समस्त प्राणियों को अपने समान जानते हैं। इस भाग की व्याख्या पर कई पुस्तकें लिखी जा सकती हैं। इसमें धर्म्म के गूढ़ तत्त्व छिपे हुए हैं।

प्रथम मन्त्र की यह थोड़ी-सी व्याख्या मैंने अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार कर दी है। बुद्धिमान् इस आधार पर और बहुत कुछ इसमें पा सकते हैं। एक बात लिख देना आवश्यक जान पड़ता है जो कि इस मन्त्र से स्पष्ट होती है।

सच्चा वेदान्त

'वेदान्त' कहने से प्रायः 'अद्वैत' समझ लिया जाता है, अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। सब संसार मिथ्या, स्वप्नवत् है। परन्तु सच्चा वेदान्त तो इस मन्त्र में स्पष्ट कर दिया गया है—'ईश्वर अखिल सृष्टि में व्यापक है, उसे न्याय नियम में रखने वाला है। भोक्ता तो दूसरा ही है जिसको यह आदेश मिलता है कि त्याग भाव से सृष्टि अर्थात् प्रकृति का भोग कर। महर्षि दयानन्द ने तीन वस्तुएँ अनादि मानी हैं—(१) प्रकृति, (२) आत्मा और (३) परमात्मा। उपनिषदों में आत्मा तथा परमात्मा दोनों के लिए कहीं-कहीं आत्मा शब्द भी आ जाता है। प्रसङ्ग से उसे समझ लेना चाहिए। आत्मतत्व दोनों में होने से एक शब्द प्रयुक्त हो जाता है। 'जीव' आत्मा ही है, परन्तु 'ब्रह्म' परम आत्मा (परमात्मा) है जिसकी शक्तियाँ आत्मा की अपेक्षा बहुत अधिक अनन्त हैं। हम तो नवीन वेदान्तियों से जगत्-मिथ्यात्व की युक्तियाँ सुन कर हैरान होते हैं—'जैसे स्वप्न में सब कुछ देखते सुनते और वर्तते हैं परन्तु वह सत्य नहीं, उसी प्रकार यह जगत् भी स्वप्नवत् है, वास्तव में है नहीं। जरा सोचिये—हमें जो स्वप्न आता है वह देखी सुनी बात का आता है। जो बात वास्तव में होती है स्वप्न भी उसी का होता है। अतएव

यदि इस जगत् को स्वप्न मानें तो उसके पूर्व कोई न कोई वास्तविक जगत् भी होना चाहिए।' इसके अतिरिक्त वे यह कहते हैं कि कहीं रस्सी पड़ी हो तो साँप प्रतीत होता है। सीप में चाँदी प्रतीत होती है जो कि वास्तव में है नहीं। उनकी यह युक्ति भी वैसी ही है। साँप या चाँदी का 'भ्रम' होता है और वह उसी को हो सकता है जिसने साँप या चाँदी को पहिले देख लिया हो। अतएव जो वस्तु सत्य है उसी का 'भ्रम' हो जाने पर मिथ्या कैसे हो गयी? वह तो वास्तव में है ही। यदि वह स्वप्न ही हो तो सब को एक समान आना चाहिये। कारण, सब कुछ 'ब्रह्म' है, अविद्या के कारण वह 'जीव' बन रहा है।

यह कितनी बड़ी भूल है कि इस जगत् में जो कुछ भी हो रहा है सब मिथ्या है। एक वेदान्ती रुग्ण होकर रोने लगे तो दूसरे व्यक्ति ने कहा कि महाराज! आप तो कहते थे कि जगत् मिथ्या है। रोगी वेदान्ती ने उत्तर दिया 'अजी, ज्ञान की बातें इस समय रहने दीजिये, अब तो रोग दूर करने की कोई औषध कीजिये।'

खूब! इस संसार में न रेल चलती है, न वायुयान उड़ते हैं, न दिल्ली है, न लंदन है, सब कुछ मिथ्या है, केवल व्यावहारिक सत्य है।

मुझे ऐसा लगता है कि भगवान् शंकराचार्य जैसे विद्वान् ने सब कुछ को इस कारण ब्रह्म कहा कि उन दिनों चार्वाक आदि मतानुयायी यह कहने लगे थे कि इस जगत् के अन्दर एकमात्र दृष्टिगोचर होने वाली और इन्द्रियगम्य प्रकृति ही है, वही सत्य है। इसके अतिरिक्त, 'जीव' और 'ब्रह्म' कोरी कल्पना है। आद्य शंकराचार्य्य जी ने वैदिक धर्म्म का प्रचार किया और उन्होंने प्रबल युक्तियों द्वारा भौतिकवादियों को परास्त किया। उन्होंने कहा—'आप लोग जो कहते हैं कि केवलमात्र प्रकृति की ही सत्ता है यह बड़ी भूल है। यह सब कुछ तो मिथ्या है। यदि कुछ है तो वह 'ब्रह्म' ही है। इस संसार का कारण तो माया और अविद्या है।

—:०:—

ईशावास्योपनिषद् का दूसरा मन्त्र

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ॅ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥'

(१) इस मन्त्र का पहिला उपदेश है कि मनुष्य कर्मों को करता हुआ ही १०० वर्षों तक जीने की इच्छा करे। परन्तु कर्म कैसे होने चाहियें ? वैसे तो चोर भी चोरी का कर्म करता है। दूकानदार भी झूठ-सच बोल कर धनोपार्जन करने का कर्म करता है। एक क्लर्क या अफ़सर ५५ वर्ष का होकर एक स्थान से पैंशन लेता है तो अन्यत्र नौकरी तलाशने लगता है कि काम करना ही ठीक है। घूस भी लेंगे तो बाल-बच्चों का पेट तो पलेगा ! परन्तु वेदमन्त्र का ऐसा आशय नहीं हैं। कारण, इसके दूसरे भाग में ही यह कहा गया है कि इस प्रकार से कर्म करते हुए तुझ को कर्म लिप्त नहीं होता है। साफ हो गया कि जिन कर्म्मों से बन्धन नहीं होता वे निष्काम, धर्म्मयुक्त और वेद-विहित कर्म्म हैं। इसी कारण ऋषि दयानन्द भाष्य करते हुए लिखते हैं :—

> 'मनुष्य इस संसार में धर्म्मयुक्त, वेदोक्त, निष्काम कर्म्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष पर्यन्त जीने की इच्छा करे।'

श्री कृष्ण महाराज ने भी अर्जुन को निष्काम कर्म्म करने का जो उपदेश गीता में किया है उसका आधार भी यही वेदमन्त्र ही है। कर्त्तव्य कर्म्म को धर्मानुसार करता हुआ, उसमें अपने को लिप्त न करता हुआ मनुष्य ही निष्काम कर्म करने वाला है। इसी को गीता में कर्म्मयोग, बुद्धियोग कहा है :—

'कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि, फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः, पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥'

गीता अ० २, श्लो० ५१

'बुद्धियोग से युक्त ज्ञानी जन कर्म जन्य फल को त्याग कर जन्म बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।'

निष्काम कर्म्म करने वाला व्यक्ति कर्त्तव्यभावना से कर्म्म करता है। फल की इच्छा न करके उसको भगवान् पर छोड़ देता है। सांसारिक लोगों के लिए यह बड़ा कठिन है, परन्तु उसका फल भी तो कम नहीं है—मुक्ति की प्राप्ति।

जितने दान पुण्यादि परोपकार के कर्म्म हैं उनमें यदि अपना स्वार्थ न रखा जाय तो वे सब निष्काम कर्म्म हैं। ऐसे कर्म्मों को ही 'यज्ञ' कहते हैं। इसी हेतु यह कहा है:—

'यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र, लोकोयं कर्म्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म्म कौन्तेय, मुक्तसङ्गः समाचर॥'

—गीता ३–९

अर्थात् यज्ञ के अतिरिक्त कर्म्म ही बन्धनकारक कर्म होते हैं जिनमें कर्त्ता का संग अथवा स्वार्थ होता है!

अब इतना तो स्पष्ट हो गया कि शुभ कर्म्मों को करते हुए सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। कोई महात्मा ऐसा भी कहते हैं कि जब ज्ञान की प्राप्ति हो जाय तब कर्म्मों को छोड़ देना चाहिए। परन्तु वेद और श्रीकृष्ण महाराज के उपदेश से तो यही स्पष्ट होता है कि न तो अकर्मा रहना चाहिये और न बुरे कर्म्म करने चाहियें।

'कर्म्म ज्यायो हि अकर्म्मणः।'

और इस उपनिषद् में ही आगे चल कर यही उपदेश है कि ज्ञान तथा कर्म्म दोनों एक साथ हों।

(२) सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करने का यह आशय है कि इसके लिए यत्न भी करना चाहिये। जो लोग आयु को नियत मानते हैं वे

भी यह कहते हैं कि आयु श्वासों पर नियत है, अतएव ऐसे कर्म करने से, जिनसे श्वासों की गति स्थिर सूक्ष्म और थोड़ी हो जाय, आयु के वर्षों में वृद्धि हो सकती है। ऋषि दयानन्द ने भी भावार्थ में लिखा है:—

> 'अशुभ कर्म्मों को छोड़ते हुए ब्रह्मचर्य के सेवन से विद्या और उत्तम शिक्षा पाकर, इन्द्रियों को रोकने से पराक्रम बढ़ा कर अल्पमृत्यु को हटाने वाले आहार विहार से सौ वर्ष की आयु को प्राप्त होवें।'

१०० वर्ष का आयुमान साधारण है। वैसे तो वेद में पूर्णायु ३०० वर्ष भी लिखी है। ऋषि दयानन्द ने आयु बढ़ाने वाले कर्म्मों का संकेत कर दिया है अर्थात् ब्रह्मचर्य्य का पालन, इन्द्रियों का संयम, आहार-विहार में युक्त होना आदि। इसमें बहुत-सी बातें आ जाती हैं। श्री कृष्ण महाराज ने भी कहा है:—

> 'युक्ताहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
> युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा॥'
>
> —गीता ६-१७

अर्थात् आहार, विहार, सोना, जागना और कर्म्मों का करना सब युक्त-रीति से होने पर योगसिद्धि के कारण बन जाते हैं, क्योंकि इनसे शरीर स्वस्थ रहता है। 'अष्टांग हृदय' में और भी कहा है:—

> 'नित्यं हिताहार-विहारसेवी,
> समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
> दाता समः सत्यपरः क्षमावान्,
> आप्तोपसेवी हि भवत्यरोगः॥'

अर्थात् जिस मनुष्य का आहार-विहार हितकर हो तथा वह दीर्घदर्शी हो, विषयों में लंपट न हो, दानशील हो, समदर्शी हो, सत्यवक्ता हो,

क्षमावान् हो, बड़ों की सेवा करके उनसे शिक्षा प्राप्त करने वाला हो वह रोग-रहित रहता है।

दाता और क्षमावान् होना मन की प्रसन्नता के लिए है। मन के प्रभाव से मनुष्य बहुत कुछ लाभ कर सकता है। मानसिक शक्ति के साथ-साथ ब्रह्मचर्य्य, व्यायाम, युक्ति पूर्वक सादा खान-पान हो तो स्वास्थ्य और आयु में अवश्य वृद्धि होती है। दीर्घदर्शी होना इस वास्ते आवश्यक है कि वह सब काम सोच कर करेंगे। दीर्घदर्शिता से जो बात अहितकर होगी उसको न करेंगे।

ईशावास्योपनिषद् के इस दूसरे मन्त्र में आयु की वृद्धि और निष्काम कर्म करने का उत्तम उपदेश है।

एक आर मन्त्र की व्याख्या

आपने देख लिया कि एक-एक मन्त्र में कितना ज्ञान भरा पड़ा है। ऐसे ही सब मन्त्रों पर आप स्वयं विचार कीजिये और उनका मर्म समझिये। सबकी ऐसी व्याख्या करने से तो बड़ी भारी पुस्तक बन सकती है। यहाँ मैं केवल एक और मन्त्र की कुछ व्याख्या करता हूँ, क्योंकि उसमें कुछ स्पष्टीकरण की आवश्यकता प्रतीत होती है। यह उपनिषद् का पन्द्रहवाँ मन्त्र है :—

'हिरण्मयेन पात्रेण, सत्यस्यापिहितम् मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु, सत्यधर्म्माय दृष्टये।'

ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य में यह मन्त्र अन्य प्रकार से है। पहिला भाग तो वही है किन्तु दूसरा भाग भिन्न प्रकार का है जो कि उपनिषद् में आगे आया है। इसी कारण इस मंत्र का ऋषि दयानन्द का भाष्य भी और प्रकार से है। परन्तु यह मन्त्र जैसा उपनिषद् का है वैसा भिन्न-भिन्न आचार्य्यों ने इसका अर्थ अन्य प्रकार से किया है। एक विद्वान्

ने कमाल ही कर दिया है। उनके किये अर्थ का भाव यह है कि गोपी कहती है—'सोने के मुकुट से, श्री कृष्ण जी! आपका मुख ढका हुआ है। उसको उठा दो तो आपके सत्स्वरूप के दर्शन पाऊँ।'

इस मन्त्र के शब्दों का अर्थ तो यही है कि हिरण्मय पात्र से सत्य का मुँह ढका हुआ है। ईश्वर से प्रार्थना की गयी है कि उसको हटावें तो सत्य धर्म्म के दर्शन मिलें। अधिक विस्तार में न जाकर मैं अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार इसकी व्याख्या कर देता हूँ:—

'हिरण्य' प्रकाशमान् पदार्थों का नाम है। सूर्य्य, चन्द्रादि भी इसके अन्तर्गत हैं। 'हिरण्य' स्वर्ण को भी कहते हैं, कारण वह भी प्रकाशयुक्त है। अतएव इसका प्रायः यह अर्थ किया जाता है 'स्वर्ण से सत्य का मुख ढका हुआ है।'

स्वर्ण प्रतीक है धन और सम्पत्ति का। धन वस्तुतः है भी सोना ही। हीरा, पन्ना, मुक्ता आदि रत्न स्वर्ण से अधिक महँगे होते हुए भी असली धन नहीं हैं। इन्हें तोड़-फोड़ दें, तीव्र ज्वाला में जला दें तो ये किसी काम के और किसी मूल्य के नहीं रहते। किन्तु स्वर्ण को कितना ही तोड़-फोड़ दिया जाय या अग्नि में जला दिया जाय तो अन्त में स्वर्ण ही रहता है, प्रत्युत कुन्दन बन जाता है। अतएव इस मन्त्र का यह अर्थ हुआ कि सत्य का मुख धन से ढका हुआ है। प्रभु के दर्शन प्रायः धन दौलत ने रोके हुए हैं। यह बाधा हटे तो सत्य के अथवा प्रभु के दर्शन हों।

इस में प्रश्न यह हो सकता है कि वेदों में ही ऐसे मन्त्र आते हैं जिनमें धन-दौलत की प्राप्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना की गयी है—यहाँ तक कि चक्रवर्ती राज्य की माँग की गयी है। —'वयम् स्याम पतयो रयिणाम्' तो रोज़ ही प्रार्थनामंत्रों में पढ़ते हैं। तो क्या यह परस्पर विरोध नहीं है? ध्यानपूर्वक सोचने पर पता लगता है कि इसमें विरोध

नहीं है। धन श्रेष्ठ भी होता है और बुरा भी। विद्वान् भी तो ऐसा ही गाते हैं :—

'न हि तद्विद्यते किञ्चिद्, यदर्थेन न सिद्धयति।
यत्नेन मतिमांस्तस्माद्, अर्थमेकं प्रसाधयेत्॥'

—'कोई ऐसी बात नहीं है जो धन से सिद्ध न होती हो। अतएव बुद्धिमान् को यत्न से धन को प्राप्त करना चाहिए।'

'अर्थाद्धर्मश्च कामश्च, स्वर्गश्चैव नराधिप।
प्राणयात्रापि लोकस्य, विना ह्यर्थं न सिध्यति॥'

'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों अर्थ अर्थात् धन से सिद्ध होते हैं और प्राणयात्रा भी तो धन के बिना सिद्ध नहीं होती।

इस प्रकार के अगणित श्लोक मिलते हैं। इनके विरुद्ध फिर ऐसे भी श्लोक मिलते हैं जिनमें द्रव्य (धन) की निन्दा की गयी है :—

'द्रव्येण जायते कामः, क्रोधो द्रव्येण जायते।
द्रव्येण जायते लोभो, मोहो द्रव्येण जायते॥'

अर्थात्—धन से काम, क्रोध, लोभ, मोहादि पैदा हो जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं :—

'त्रिविधं नरकस्येदं, द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्, तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥'

—'काम, क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं, नाश करने वाले हैं; अतएव इन तीनों को त्याग देना चाहिए।'

दोनों ही बातें ठीक हैं। धन स्वर्ग में भी ले जा सकता है और नरक में तो प्रायः ले जाता ही है। गीता के वाक्य से यह बात स्पष्ट हो जाती है। वहाँ 'अर्थ' (धन) शब्द के स्थान पर 'लोभ' लिखा हुआ है। धन बुरा नहीं है। उसका लोभ और दुरुपयोग बुरा है। धन कमा कर

जो कोई दान में लगाता है, उससे धार्मिक कार्य्य करता है, धन के मद में आकर प्रभुभक्ति से विमुख नहीं होता, परोपकारादि उत्तम कामों में धन लगाता है वह व्यक्ति और वह धन बुरे नहीं हैं। परन्तु जब मनुष्य धन के मद में आकर बुराइयों में पड़ जाता है, विलासिताओं में उसको गँवाता है, उपकार के स्थान पर अपकार में व्यय करता है; तब तो काम, क्रोध, लोभ, मोहादि सब आ घेरते हैं और उसकी बुद्धि नष्ट करके उसका नाश कर देते हैं। तब तो यही कहना होगा कि धन ने सत्य का मुख ढक रखा है। यह आश्चर्य की बात है कि धन के साथ लोभ बढ़ता जाता है और लोभ तो पापों का मूल है। चोर बाज़ारी (*Black Market*) में प्रायः धनिक ही पकड़े गये हैं। बड़े-बड़े अफ़सर ही सरकारी चोरियाँ करते और घूस खाते रहे हैं। धन का लोभ आ जाने और तृष्णा अधिक बढ़ जाने से सब प्रकार के पाप करके भी मनुष्य धन का संग्रह करना चाहता है। दिनानुदिन उसका आत्मा मलिन होता चला जाता है। जो धर्मवीर धन को धर्म से कमाता है और सत्कार्य्यों में ही उसको लगाता है उसकी बुद्धि 'प्रतिष्ठित' जानो। ऐसे प्रतिष्ठित बुद्धि वाले के लिए धन 'अमृत' है। इसके विना धन सचमुच 'विष' है और वह 'सत्य' का मुख ढके हुए है।

ऋषि दयानन्द 'मनुस्मृति' का उद्धरण देकर लिखते हैं:—

'गृहस्थ कभी किसी दुष्ट के प्रसङ्ग से द्रव्य संचय न करे. न विरुद्ध कर्म्म से (धन संचय करे), न विद्यमान पदार्थ होने पर उसको गुप्त रख कर, दूसरे से छल करके (संचय करे) और चाहे कितना ही दुःख पड़े तथापि अधर्म से संचय न करे।'

अब आप कहिये ! ऐसा धन क्या कभी सत्य को ढाँप सकता है। उपनिषद् का यही आदेश है कि धन को धर्म्म से कमाओ और धर्म्म में ही लगाओ, सुख प्राप्त करो। अन्यथा, धन तुम्हें ले डूबेगा।

सज्जनवृन्द ! मैंने केवल तीन मन्त्रों की थोड़ी-थोड़ी व्याख्या इसलिए कर दी है कि आप ईशावास्योपनिषद् के रहस्य को जान जायँ और इसका स्वाध्याय बड़े प्रेम से करना आरंभ कर दें। इसमें जीवन-नीति सम्पूर्ण रूप से भरी हुई है। सब मंत्रों की पूरी व्याख्या समझ लेने से आत्मोन्नति के सभी साधन समझ में आ जाते हैं। इसी वास्ते वेद का अन्तिम अध्याय होने से इसी उपदेश को ज्ञानी वेदान्त मानते हैं।

ठाकुरदत्त शर्मा वैद्य

श्रीमती पूर्णदेवी के सम्बन्ध में तीन महात्माओं के पत्र

(१)

श्री स्वामी सत्यानन्द जी महाराज का पत्र

पंडित श्री ठाकुरदत्त शर्म्मा जी की धर्म्मपत्नी श्रीमती पूर्णदेवी जी एक बड़ी धार्मिका, सुशीला और बड़ी समझवाली स्त्री थीं। वे कर्त्तव्य-पालन में बड़ी तत्पर रहती थीं। सुधार के कामों में भी भाग लिया करती थीं। दूसरी स्त्रियों के साथ मिल कर निर्बल अबला स्त्रियों को भी वे चुपचाप सहायता पहुँचाया करती थीं—ऐसे अनेक उनके सुकृति के काम चुपचाप हुआ करते थे।

वे बड़ी भजन पाठ करने वाली थीं, अपनी आराधना साधना की बातें कदाचित् ही कहती होंगी। परन्तु उनका आत्मा इतना समुन्नत था कि बैठे हुए, खड़े हुए अपने चर्म-चक्षुओं से भी अवतारों, सिद्धों, महात्मा सन्तों के स्वरूप देखा करती थीं। ऐसी सिद्धि हजारों साधकों में से कदाचित् ही किसी साधक को प्राप्त हुआ करती है।

(हस्ताक्षर) सत्यानन्द

३०–३–५५

श्री स्वामी आनन्द स्वामी जी महाराज का पत्र

श्रीमती पूर्णदेवी जी का जीवन बड़ा आदर्श जीवन रहा है। जहाँ वह सच्ची सती साध्वी देवियों की तरह सदा पति-सेवा तथा पति-हित-चिन्तन में लगी रहतीं, वहाँ मानव जीवन के ध्येय आत्म-दर्शन के लिये भी यत्नशील रहतीं। मैं जब कभी उनके पास बैठता, मुझे यही कहतीं कि चित्त की एकाग्रता का सुगम उपाय क्या है; क्या इस जीवन में आत्म-दर्शन हो सकेंगे? यही नहीं, वह दुखियों, गरीबों की सहायता चुपचाप करती रहती थीं। ऐसी देवियों के जीवन सर्वसाधारण गृहस्थियों के लिए सन्मार्ग दिखलाने वाले होते हैं।

योग निकेतन
उत्तर काशी
६–५–५५

(हस्ताक्षर) आनन्द स्वामी सरस्वती

(३)

श्री ब्रह्मचारी व्यासदेव जी महाराज का पत्र

श्रीमती माता पूर्णदेवी जी धर्मपत्नी पं. ठाकुरदत्त जी शर्मा वैद्य, अमृतधारा, बहुत ही ऊँचे दर्जे की आदर्श-युक्ता, समझदार, पतिव्रत-धर्मपरायणा, सती, साध्वी, श्रद्धा और भक्ति से आपन्न, अनन्य ईश्वर-भक्ता देवी थीं। इनके अन्दर अतिथि और लोक-सेवा का भाव बहुत ही ऊँचा था। इनके द्वार से कोई भी याचक खाली हाथ नहीं जाता था। वे सदा दीन, दुःखी, अनाथों, विधवाओं, सन्तों और ब्राह्मणों की गुप्त रूप से सहायता किया करती थीं। इनकी भविष्य वाणी सदा यथार्थ होती थी और सदा सिद्धों के समान बातें किया करती थीं। अध्यात्म ज्ञान में इनकी अवस्था बहुत ही ऊंची थी। जब वह ध्यान योग में बैठती थीं, तो उनका मन बहुत ही शीघ्र समाहित होकर, एक दिव्य-ज्योति उनके अन्दर प्रकट होकर, अतीन्द्रिय सूक्ष्म पदार्थों का साक्षात्कार होने लगता था। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में इनका मोह परिवार से बिलकुल जाता रहा था और अन्तर्मुख होकर सदा भगवान् के सान्निध्य में पूर्ण सुख, शान्ति तथा आनन्द का अनुभव किया करती थीं।

योग निकेतन,
गंगोत्री, (हिमालय) } (ह.) व्यासदेव

दो शब्द

स्वर्गीया पूज्या श्री बीबी जी मानवी शरीर में देवी थीं। देवी ही नहीं, वह पूर्ण देवी थीं। मेरी उन में अक्षुण्ण* मातृभक्ति रही है और वह भी मुझ में अपने किसी भी पुत्र से कम स्नेह न रखती थीं।

"उनमें अनेक गुण थे और अपूर्व प्रतिभा थी। उनके सत् परामर्शों से अनेक †भ्रान्त ‡संभ्रान्त परिवारों का भला हुआ और दान तथा दया से दीनों के दुःख कटे। अन्यान्य अनेक गुणों के अतिरिक्त उनकी पतिव्रत धर्म पर निष्ठा अपनी परम तथा चरम सीमा तक पहुँची हुई थी।"

मैं अपनी इस माता में अनुसूया और सीता के गुणों को देखता हूँ। लगभग ४० वर्ष तक उनके चरणों में रहते मैंने अनेक बार इस बात का अनुभव किया है कि वह अपने जीवन का उद्देश्य एकमात्र पति-भक्ति ही मानती थीं। इस लिए उन्होंने अपने जीवन भर में कोई ऐसा कार्य कभी नहीं किया जिस में पूज्य बाबू जी की सम्मति न हो। वह अपनी सुख-सम्पत्ति, ममता-मोह, समस्त-अभिलाषा और आशाओं को अपने पतिदेव की इच्छा के सामने सदा ऐसे समर्पित कर दिया करतीं थीं, मानो उनमें अपना मन है ही नहीं। उन्होंने केवल दो शरीरों में एक ही मन मान रखा था। उनका यह गुण आर्य-संस्कृति की स्त्रियों के लिये अनुकरणीय है।

धर्म में प्रवृत्ति होने के कारण वह आर्य-समाज के धर्म-ग्रन्थों का सदा स्वाध्याय किया करती थीं, परन्तु अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वह "ईशावास्योपनिषद्" को बड़ी लगन से पढ़ती और सुनती थीं, इसके कुछ मन्त्र उन्हें कण्ठ भी थे। अर्थों के लिये यद्यपि उन्होंने और भी कुछ टीकायें देखी और सुनी थीं, परन्तु ऋषि दयानन्द पर अटूट श्रद्धा होने के

---

* अक्षुण्ण = बिना टूटे लगातार. समूची। † भ्रान्त = व्याकुल, भ्रम में पड़ा हुआ। ‡ संभ्रान्त = सम्मानित प्रतिष्ठित।

कारण यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में इन मन्त्रों के जो अर्थ ऋषि दयानन्द जी ने लिखे हैं उन्हीं पर उनकी आस्था थी, क्योंकि अपने अन्तिम, दिनों में उन्हें 'ईशावास्य' पर विशेष रुचि थी, इस लिये निश्चय हुआ कि उनकी पुण्य स्मृति में 'ईशावास्योपनिषद्' ऋषि दयानन्दकृत भाष्य-सहित मुद्रित कराई जाय।

मैं उनके स्नेहमय उपकारों का सदा ऋणी रहा हूँ और यह चुकाना मेरी क्षमता से बाहिर की बात है। पर, वश की बात है उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना। इसी उद्देश्य से मैंने पूज्य बाबू जी से प्रार्थना की कि इस पुस्तक को मैं लिखूंगा।

यद्यपि मैं जानता हूँ कि उपनिषद् एक रहस्य-विद्या की पुस्तक है, उसमें बड़े २ रहस्य भरे पड़े हैं। भावों के रहस्य तो अनुभवी ही बता सकते हैं, मेरे जैसे अल्पज्ञ के लिये तो उसके पद ही बड़े पेचीदा हैं। एक जगह लिखा है, कि अविद्या की उपासना से अन्धकार में पड़ता है, तो आगे आ गया है कि विद्या की उपासना से उस से भी घोर अन्धेरे में गिरता है। फिर अविद्या द्वारा ही मृत्यु को पार करने की बात भी कही गई है। यही बात संभूति और असंभूति के विषय में है।

भावों के विषय में मैं क्या कहूँ? बड़े २ आचार्यों में मतभेद हैं। भिन्न २ सम्प्रदाय के आचार्यों ने इस उपनिषद् के मन्त्रों से भिन्न २ भाव निकाले हैं। पुस्तक का आकार बढ़ जाने के भय से यहां सब सम्प्रदायों के सभी भाव बतलाना कठिन जान कर मैंने पहले भाग में यजुर्वेद अन्तिमाध्याय का ऋषि दयानन्द भाष्य का हिन्दी अनुवाद दिया है और दूसरे भाग में कुछ सम्प्रदायाचार्यों तथा विशेष विद्वानों के किये भिन्न २ अर्थों में से कुछ पदों वा मन्त्रों के विशेषार्थ अति संक्षेप से पाठकों की जानकारी के लिये लिखे हैं।

यह श्री पूर्णदेवी ग्रन्थमाला का प्रथम पुष्प है, जो स्वर्गीया पूज्या श्री बीबी जी की पुण्य स्मृति में समर्पित कर रहा हूँ।

रघुनाथदत्त बन्धुः

प्राक्कथन

यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय में १७ मन्त्र हैं। इनमें जीव, जगत् तथा जगदीश्वर के स्वरूप और सम्बन्ध का विवेचन होने से इस अध्याय को उपनिषद् मान लिया गया है। इसी लिये इसके श्रौतसूत्रकार कात्यायन[1] ने इसका किसी यज्ञ कर्म में विनियोग नहीं किया।

इस अध्याय का 'ईशावास्य' इस मन्त्र से आरम्भ होने के कारण इस उपनिषद् का नाम भी 'ईशावास्य' ही पड़ गया।

उपनिषद् वाङ्मय भी कभी बड़ा विस्तृत था। केवल वैदिक उपनिषदों की संख्या[2] ही ११८० हुआ करती थी, परन्तु अपनी शाखाओं की तरह ये भी बहुत सी काल के गाल में विलुप्त हो चुकी हैं। इस समय तो वैदिक तथा सांप्रदायिक सभी मिला कर केवल २२३ उपनिषदें[3] ही मिलती हैं। ये उपलब्ध वैदिक उपनिषद् भी ब्राह्मण व आरण्यक ग्रन्थों के ही भाग हैं, इनमें केवल 'ईशावास्य' ही एक ऐसी उपनिषद् है जो संहिता में से ली गई है। यह शुक्ल यजुर्वेदीय उपनिषद् है।

यद्यपि उपनिषद् वैदिक हों या साम्प्रदायिक सभी अपने २ दृष्टिकोण से उस परम तत्त्व का निरूपण करती हैं, तथापि इतनी उपनिषदों में से केवल ११ ही ऐसी हैं जिन्हें प्राचीनता के कारण सभी सम्प्रदायों में मान्यता मिली है और इनमें भी १० ब्राह्मण तथा आरण्यकों से ली हुई हैं। केवल एक 'ईशावास्य' ही ऐसी है जो संहिता का भाग है। संहिता का एक भाग होने से ही यह 'ईशावास्योपनिषद्' उपलब्ध २२३ उपनिषदों में से सर्वप्रथम गिनी जाती है।

इस समय शुक्ल यजुर्वेद की १७ शाखाओं में से माध्यन्दिनी

---

१. देखो यजुर्भाष्य उव्वट।

२. मुक्तोपनिषद् १।११-१४।

३. उपनिषद् महावाक्य कोष।

और काण्व ये दो शाखा ही केवल उपलब्ध होती हैं। इन में ४०-४० अध्याय हैं।

माध्यन्दिनी के ४०वें अध्याय में १७ मन्त्र हैं और वे ही मन्त्र कुछ थोड़े से स्वर, क्रम तथा पाठ-भेद के कारण काण्व शाखा में १८ हो गये हैं और यही 'ईशावास्योपनिषद्' है। यद्यपि ये मन्त्र दोनों शाखाओं में पाये जाते हैं, तथापि प्रायः प्राचीन आचार्यों तथा विद्वानों ने काण्व शाखा के पाठ को लेकर ही 'ईशावास्य' पर भाष्य तथा टीकाएं की हैं और इन मन्त्रों को अपने २ सम्प्रदाय[1] के अनुसार अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, शाक्ताद्वैत तथा द्वैतपरक लगाया है। परन्तु यह पुस्तक जिस स्वर्गीया माता की पुण्य स्मृति में लिखी गई है वह श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती के मंतव्यानुसार ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को अनादि मानती थीं। इस लिये मैंने इन मन्त्रों पर महर्षि दयानन्द जी का प्रथम भाष्य प्रथम देना अत्यावश्यक समझा, क्योंकि उनका भाष्य काण्व पर नहीं है इस लिये इस में माध्यन्दिनी का पाठ ले लिया गया है और जो पद माध्यन्दिनी में नहीं है उन्हें टिप्पण में रख कर उनका जो अर्थ आर्यसमाज के आर्य विद्वानों ने दिया है उन्हीं के अनुसार यहां लिख दिया है तथा श्री स्वामी जी के भाष्य में मैंने उनके संस्कृत भाष्य का अनुसरण किया है।

इस पुस्तक के प्रथम भाग में श्री स्वामी जी का भाष्य है और द्वितीय भाग में मैंने निम्नलिखित आचार्य तथा विद्वानों के भाष्य तथा व्याख्याओं का कुछ २ अति संक्षेप से कहीं २ आशय दिया है।

---

१. यह स्मरण रखने की बात है कि वेदान्त के सभी संप्रदाय युक्ति से श्रुति प्रमाण को प्रबल मानते हैं और श्रुति का विरोध करने वाली युक्ति को प्रमाण नहीं मानते।

महानुभावों की देन हैं और इस पुस्तक में जो त्रुटियां या दोष व किसी के सिद्धान्त के विरुद्ध अनजाने लिखा गया है वह मेरी अल्पज्ञता का परिणाम है जिस के लिये मैं विद्वानों से क्षमा प्रार्थी हूँ।

मैं अपने विषय में श्री हेमाचार्य के शब्दों में कहता हूँ—

प्रमाणसिद्धान्तविरुद्धमत्र,
यत्किञ्चिदुक्तं मतिमान्द्यदोषात्।
मात्सर्यमुत्सार्य तदार्यचित्ताः,
प्रसादमाधाय विशोधयन्तु॥

विनीत
रघुनाथदत्तबन्धुः

* ओ३म् *

ईशावास्योपनिषत्[1]

श्रीमहर्षिदयानन्दसरस्वतीभाष्योपेता ।

प्रथमो भागः

"ईशावास्यम्" इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । अनुष्टुप् छन्द है । मनुष्य ईश्वर को जान के क्या करें, इस विषय में कहा है ।

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं, यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा, मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥

भाष्य—हे मनुष्य ! तू (यत्) जो (इदम्) प्रकृति से लेकर पृथिवी पर्य्यन्त (सर्वम्) सब (जगत्याम्) प्राप्त होने योग्य सृष्टि में (जगत्) चर प्राणिमात्र (ईशा) संपूर्ण ऐश्वर्य से युक्त सर्वशक्तिमान् परमात्मा से (वास्यम्) आच्छादन करने योग्य अर्थात् सब ओर से व्याप्त होने योग्य है । (तेन) उस (त्यक्तेन) त्याग[3] किये हुए जगत् से (भुञ्जीथाः) पदार्थों के भोगने का

---

१. ईशोपनिषद् के लिये प्रायः सभी प्राचीन आचार्यों ने कारव शाखा का पाठ स्वीकार किया है । अतः इस माध्यन्दिन पाठ के साथ कारव पाठभेद भी दिया जायेगा ।

२. "वास्यम्" में स्वर के चिह्न में भेद है । माध्यन्दिनी में "वास्यम्" और कारव में "वास्यम्" है ।

३. श्री स्वामी जी के संस्कृत भाष्य में ये शब्द हैं—'(त्यक्तेन) वर्जितेन तच्चित्तरहितेन' अर्थात् मन को न फंसा कर (उन को भोग) ।

पं० इन्द्र विद्या वाचस्पति प्रद०..

अनुभव कर, किन्तु (कस्य, स्वित्) किसी के भी (धनम्) वस्तुमात्र की (मा) मत (गृधः) अभिलाषा कर ॥१॥

भावार्थ—जो मनुष्य ईश्वर से डरते हैं कि यह हम को सदा सब ओर से देखता है। यह जगत् ईश्वर से व्याप्त और सर्वत्र ईश्वर विद्यमान है। इस प्रकार व्यापक अन्तर्यामी परमात्मा का निश्चय करके कभी अन्याय के आचरण से किसी का कुछ भी द्रव्य ग्रहण नहीं किया चाहते, वे धर्मात्मा होकर इस लोक के सुख और परलोक में मुक्ति रूप सुख को प्राप्त करके सदा आनन्द में रहें ॥१॥

"कुर्वन्" इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि। आत्मा देवता। भुरिग-नुष्टुप् छन्द है। इसमें वेदोक्त कर्म की उत्तमता कही है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

भाष्य—मनुष्य (इह) इस संसार में (कर्माणि) धर्मयुक्त वेदोक्त निष्काम कर्मों को (कुर्वन्) करता हुआ (एव) ही (शतम्) सौ (समाः) वर्ष (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे (एवं) इस प्रकार धर्मयुक्त कर्म में प्रवर्त्तमान (त्वयि) तुझ (नरे) व्यवहारों को चलाने हारे जीवन के इच्छुक होते हुए (कर्म) अधर्म युक्त अवैदिक काम्य कर्म (न) नहीं (लिप्यते) लिप्त होता (इतः) इससे जो और प्रकार से (न अस्ति) कर्म लगाने का अभाव नहीं होता है ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य आलस्य को छोड़ के सब देखने वाले न्यायाधीश

माध्यन्दिन में "नान्यथेतः" और काण्व में "नान्यथेतः" स्वर चिह्न में भेद है।

परमात्मा और करने योग्य उसकी आज्ञा को मान कर शुभ कर्मों को करते और अशुभ कर्मों को छोड़ते हुए ब्रह्मचर्य के सेवन से विद्या और अच्छी शिक्षा को पाकर उपस्थ इन्द्रिय के रोकने से पराक्रम को बढ़ा कर अल्प मृत्यु को हटावें, युक्त आहार विहार से सौ वर्ष की आयु को प्राप्त होवें। जैसे २ मनुष्य सुकर्मों में चेष्टा करते हैं वैसे २ ही पाप कर्म से बुद्धि की निवृत्ति होती और विद्या, अवस्था और सुशीलता बढ़ती है ॥२॥

"असुर्या" इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, आत्मा देवता और अनुष्टुप् छन्द है। आत्मा के हननकर्ता अर्थात् आत्मा को भूले हुए जन कैसे होते हैं। इस विषय में कहा है।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

भाष्य—जो (लोकाः) देखने वाले लोग (अन्धेन) अन्धकार रूप (तमसा) ज्ञान का आवरण करने वाले अज्ञान से (आवृताः) सब ओर से ढंपे हुए (च) और (ये) जो (के) कोई (आत्महनः) आत्मा के विरुद्ध आचरण करने हारे (जनाः) मनुष्य हैं (ते) वे (असुर्याः) अपने प्राण-पोषण में तत्पर अविद्यादि दोषयुक्त लोगों के सम्बन्धी उनके सदृश पापकर्म करने वाले (नाम) प्रसिद्ध हैं (ते) वे (प्रेत्य) मरने के पीछे (अपि) और जीते हुए भी (तान्) उन दुःख और अज्ञान रूप अन्धकार से युक्त भोगों को (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं ॥३॥

माध्यन्दिन पाठः	काण्व पाठः
१. असुर्याः	१. असुर्याः
२. तांस्ते	२. तांऽस्ते
३. अपि गच्छन्ति	३. अभिगच्छन्ति

काण्व पाठ का 'अभिगच्छन्ति' प्राप्त होते हैं। (म. म. आर्यमुनि)

भावार्थ—वे ही असुर, दैत्य, राक्षस, पिशाच, दुष्ट मनुष्य हैं जो आत्मा में और जानते, वाणी से और बोलते और करते कुछ और ही हैं। वे कभी अविद्या रूप दुःख सागर से पार हो आनन्द को नहीं प्राप्त हो सकते और जो आत्मा मन, वाणी और कर्म से निष्कपट एक सा आचरण करते हैं, वे ही देव आर्य सौभाग्यवान् सब जगत् को पवित्र करते हुए इस लोक और परलोक में अतुल सुख भोगते हैं ॥३॥

"**अनेजत्**" इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, ब्रह्मा देवता, निचृत्त्रिष्टुप् छन्द। कैसा जन ईश्वर का साक्षात् करता है। इस विषय में कहा है।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्[1]।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥४॥

भाष्य—**हे विद्वान् मनुष्यो! जो (एकम्) अद्वितीय (अनेजत्) न कंपने वाला अर्थात् अचल अपनी अवस्था से हटना कंपन कहाता है। उससे रहित (मनसः) मन के वेग से भी (जवीयः) अति वेगवान् (पूर्वम्) सब से आगे (अर्षत्) चलता हुआ अर्थात् जहां कोई चल कर जावे वहां प्रथम ही सर्वत्र व्याप्ति**

---

१. अजमेर की पुस्तक में "**अर्षत्**" पाठ छपा है और इसी पर श्री स्वामी जी का भाष्य है। परन्तु यजुर्वेदी वेदपाठी माध्यन्दिन शाखा का पाठ "**अर्षत्**" नहीं किन्तु "**अर्शत्**" मानते हैं। **अर्शत्** तथा **अर्षत्** में अर्थ-भेद न होने पर भी उच्चारण में भेद अवश्य है।

वैदिक यन्त्रालय वालों से पूछा था वह यहां "**अर्षत्**" पाठ ही ठीक समझते हैं इसी लिये मैंने मूल में अर्षत् पाठ ही रहने दिया है, पर वास्तव में माध्यन्दिन शाखा का अर्शत् और काण्वशाखा का अर्षत् पाठ है और यही मत माध्यन्दिन के प्राचीन भाष्यकार उव्वट तथा महीधर और काण्व के भाष्यकार आनन्द तथा अनन्ताचार्य का अपनी २ शाखा के विषय में है। अतः यहां "**अर्शत्**" चाहिये।

से पहुंचा हुआ ब्रह्म है (एनत्) इस पूर्वोक्त ईश्वर को (देवाः) चक्षु आदि इन्द्रियां (न) नहीं (आप्नुवन्) प्राप्त होते (तत्) वह परब्रह्म अपने आप (तिष्ठत्) स्थिर हुआ अपनी अनन्त व्याप्ति से (धावतः) विषयों की ओर गिरते हुए (अन्यान्) आत्मा के स्वरूप से विलक्षण मन, वाणी आदि इन्द्रियों का (अति, एति) उल्लंघन कर जाता है। (तस्मिन्) उस सर्वत्र अभिव्याप्त ईश्वर की स्थिरता में (मातरिश्वा) अन्तरिक्ष में प्राणों को धारण करने हारे वायु के तुल्य जीव (अपः) कर्म वा क्रिया को (दधाति) धारण करता है। यह जानो ॥४॥

भावार्थ—ब्रह्म के अनन्त होने से जहां २ मन जाता है वहां २ प्रथम से ही अभिव्याप्त पहिले से ही स्थिर ब्रह्म वर्तमान है उसका विज्ञान शुद्ध मन से होता है चक्षु आदि इन्द्रियों और अविद्वानों से देखने योग्य नहीं है। वह आप निश्चल हुआ सब जीवों को नियम से चलाता और धारण करता है। उसके अति सूक्ष्म इन्द्रियगम्य न होने के कारण धर्मात्मा विद्वान् योगी को ही उसका साक्षात् ज्ञान होता है अन्य को नहीं ॥४॥

"तदेजति" इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि। आत्मा देवता। निचृद-नुष्टुप् छन्द है। विद्वानों के निकट और अविद्वानों के ब्रह्म दूर है। इस वि.

तदे॑जति॒ तन्नैज॑ति॒[1] तद्दू॒रे तद्व॑न्ति॒के।
तद॒न्तर॑स्य॒ सर्व॑स्य॒ तदु॒ सर्व॑स्यास्य बाह्य॒तः ॥ ५ ॥

भाष्य—हे मनुष्यो! (तत्) वह ब्रह्म (एजति) मूर्खों की दृष्टि से चलायमान होता (तत्) वह (न, एजति) अपने स्वरूप से न चलायमान और न चलाया जाता है (तत्) वह (दूरे) अधर्मात्मा अविद्वान् अयोगियों से दूर अर्थात् क्रोड़ों वर्ष में भी नहीं प्राप्त होता (तत्) वह (उ) ही (अन्तिके) धर्मात्मा विद्वान्

१. काण्व पाठ—"तन्नेजति" अर्थ में कोई भेद नहीं।

योगियों के समीप (तत्) वह (अस्य) इस (सर्वस्य) सब जगत् वा जीव समूह के (अन्तः) भीतर (उ) और (तत्) वह (अस्य) इस (सर्वस्य) सब प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप जगत् के (बाह्यतः) बाहर भी वर्तमान है ॥५॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! वह ब्रह्म मूढ़ की दृष्टि में कंपता जैसा है। वह आप व्यापक होने से कभी नहीं चलायमान होता। जो जन उस की आज्ञा से विरुद्ध हैं, वे इधर उधर भागते हुए भी उसको नहीं जानते और जो ईश्वर की आज्ञा का अनुष्ठान करने वाले हैं, वे अपने आत्मा में स्थित अति निकट ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। जो ब्रह्म सब प्रकृति आदि के बाहर भीतर अवयवों में अभिव्याप्त होके अन्तर्यामी रूप से सब जीवों के सब पाप-पुण्यरूप कर्मों को जानता हुआ यथार्थ फल देता है वही सबको ध्यान में रखना चाहिये और उसी से सब को डरना चाहिये ॥५॥

"**यस्तु**" इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषिः, आत्मा देवता और निचृद-नुष्टुप् छन्द है। अब ईश्वर विषय में कहा है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ ६ ॥

भाष्य—हे मनुष्यो ! (यः) जो विद्वान् जन (आत्मन्) परमात्मा के भीतर (एव) ही (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी-अप्राणियों को (अनु-पश्यति) विद्या धर्म और योगाभ्यास करने के पश्चात् ध्यान दृष्टि से देखता है (तु) और जो (सर्वभूतेषु) सब प्रकृत्यादि पदार्थों में (आत्मानम्) आत्मा को (च) भी देखता है वह विद्वान् (ततः) तिस पीछे (न) नहीं (विचिकित्सति) संशय को प्राप्त होता। ऐसा तुम जानो ॥६॥

१. काण्व पाठः—"विजुगुप्सते" (न विजुगुप्सते) अरक्षित नहीं होता अथवा किसी की निन्दा स्तुति नहीं करता। (म. म. आर्यमुनि)

भावार्थ—हे मनुष्यो! जो लोग सर्वव्यापी, न्यायकारी, सर्वज्ञ, सनातन, सब के आत्मा, अन्तर्यामी, सब के द्रष्टा परमात्मा को जान कर सुख-दुःख हानि-लाभों में अपने आत्मा के तुल्य सब प्राणियों को जान कर धार्मिक होते हैं। वे ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥६॥

"यस्मिन्" इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि। आत्मा देवता। निचृदनुष्टुप् छन्द है। अब कौन अविद्यादि दोषों को त्यागते हैं इस विषय में कहते हैं।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकं एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

भाष्य—हे मनुष्यो! (यस्मिन्) जिस परमात्मा, ज्ञान, विज्ञान वा धर्म में (विजानतः) विशेषकर ध्यान दृष्टि से देखते हुए को (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणिमात्र (आत्मा) (एव) अपने तुल्य ही सुख-दुःख वाले (अभूत्) होते हैं (तत्र) उस परमात्मा आदि में (एकत्वम्) अद्वितीय भाव को (अनुपश्यतः) अनुकूल योगाभ्यास से साक्षात् देखते हुए योगीजन को (कः) कौन (मोहः) मूढावस्था और (कः) कौन (शोकः) शोक वा क्लेश होता है, अर्थात् कुछ भी नहीं ॥७॥

भावार्थ—जो विद्वान् संन्यासी लोग परमात्मा के सहचारी प्राणिमात्र को अपने आत्मा के तुल्य जानते हैं अर्थात् जैसे अपना हित चाहते वैसे ही अन्यों में भी वर्तते हैं। एक अद्वितीय परमेश्वर के शरण को प्राप्त होते हैं उनको मोह शोक और लोभ आदि दोष कदाचित् प्राप्त नहीं होते और जो लोग अपने आत्मा को यथावत् जान कर परमात्मा को जानते हैं वे सदा सुखी होते हैं।

"**सपर्यगात्**" इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। स्वराड् जगती छन्द है। फिर परमेश्वर कैसा है, इस विषय में कहा है।

सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्था-
न्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ ८॥

भाष्य—हे मनुष्यो! जो ब्रह्म (शुक्रम्) शीघ्रकारी सर्वशक्तिमान् (अकायम्) स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर-रहित (अव्रणम्) छिद्र-रहित और नहीं छेद करने योग्य (अस्नाविरम्) नाडी आदि के साथ सम्बन्ध रूप बन्धन से रहित (शुद्धम्) अविद्यादि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र और (अपापविद्धम्) जो पापयुक्त पापकारी और पाप में प्रीति करने वाला कभी नहीं होता (परि, अगात्) सब ओर से व्याप्त है। जो (कविः) सर्वज्ञ (मनीषी) सब जीवों के मनोवृत्तियों को जानने वाला (परि, भूः) दुष्ट पापियों का तिरस्कार करने वाला और (स्वयम्भूः) अनादि स्वरूप, जिस की संयोग से उत्पत्ति वियोग से विनाश, माता-पिता गर्भवास जन्म वृद्धि और मरण नहीं होते, वह परमात्मा (शाश्वतीभ्यः) सनातन अनादि स्वरूप अपने २ स्वरूप से उत्पत्ति और विनाश-रहित (समाभ्यः) प्रजाओं के लिये (याथातथ्यतः) यथार्थ भाव से (अर्थान्) वेद द्वारा सब पदार्थों को (व्यदधात्) विशेषकर बनाता है। (स) वही परमेश्वर तुम लोगों को उपासना करने योग्य है॥८॥

भावार्थ—हे मनुष्यो! जो अनन्त शक्ति युक्त अजन्मा निरन्तर सदा मुक्त न्यायकारी निर्मल सर्वज्ञ सब का साक्षी नियन्ता अनादि स्वरूप

काण्व में स्वर—व्यदधात्। स्वर चिह्न में भेद है।

ब्रह्म कल्प के आरम्भ में जीवों को अपने कहे वेदों से शब्द अर्थ और उनके सम्बन्ध को जानने वाली विद्या का उपदेश न करे तो कोई विद्वान् न होवे और न धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के फलों के भोगने को समर्थ हो, इस लिये इसी ब्रह्म की सदैव उपासना करो ॥८॥

"अन्धन्तमः" इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्द है। कौन मनुष्य अन्धकार को प्राप्त होते हैं इस विषय में कहा है—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूयं इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः ॥ ९ ॥[1]

भाष्य—(ये) जो लोग परमेश्वर को छोड़ कर (असम्भूतिम्) अनादि अनुत्पन्न सत्व रज और तमोगुणमय प्रकृति रूप जड़ वस्तु को (उपासते) उपास्यभाव से जानते हैं। वे (अन्धम् तमः) आवरण करने वाले अन्धकार को (प्रविशन्ति) अच्छे प्रकार प्राप्त होते और (ये) जो (सम्भूत्याम्) महत्तत्त्वादि स्वरूप से परिणाम को प्राप्त हुई सृष्टि में (रताः) रमण करते हैं (ते) वे (उ) वितर्क के साथ (ततः) उससे (भूयः इव) अधिक जैसे वैसे (तमः) अविद्या रूप अन्धकार को प्राप्त होते हैं ॥९॥

भावार्थ—जो मनुष्य समस्त जड़ जगत् के अनादि नित्य कारण को उपासना भाव से स्वीकार करते हैं, वे अविद्या को प्राप्त होकर क्लेश को प्राप्त होते और जो उस कारण से उत्पन्न स्थूल सूक्ष्म कार्य कारणाख्य अनित्य संयोगजन्य कार्य जगत् को इष्ट उपास्य मानते हैं, वे गाढ़ अविद्या को पाकर अधिकतर क्लेश को प्राप्त होते हैं, इस लिये सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा की ही सब सदा उपासना करें ॥९॥

---

१. काण्व में यह मन्त्र १२वां है और जो यहां १२वां है वह काण्व में ९वां है।

"अन्यदेव"[1] इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, आत्मा देवता, अनुष्टुप् छन्द है। फिर मनुष्य क्या करें इस विषय में कहा है—

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

भाष्य—हे मनुष्यो ! जैसे हम लोग (धीराणाम्) मेधावी विद्वान् योगियों से जो वचन (शुश्रुम) सुनते हैं (ये) जो वे लोग (नः) हमारे प्रति (विचचक्षिरे) व्याख्यान पूर्वक कहते हैं वे लोग (सम्भवात्) संयोगजन्य कार्य से (अन्यत् एव) और ही कार्य या फल (आहुः) कहते (असम्भवात्) उत्पन्न नहीं होने वाले कारण से (अन्यत्) और (आहुः) कहते हैं (इति) इस बात को तुम भी सुनो ॥१०॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे विद्वान् लोग कार्य कारण रूप वस्तु से भिन्न २ वक्ष्यमाण उपकार लेते और लिवाते हैं तथा उन कार्य कारण के गुणों को जान कर जनाते हैं। ऐसे ही तुम लोग भी निश्चय करो ॥१०॥

"सम्भूति"[2]—इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि आत्मा देवता अनुष्टुप् छन्द है फिर मनुष्यों को कार्य-कारण से क्या २ सिद्ध करना चाहिये इस विषय में कहा है—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥११॥

भाष्य—हे मनुष्यो ! (यः) जो विद्वान् (सम्भूतिम्) जिसमें

---

१. काण्व में यह मन्त्र १३वां है जो यहां १३वां है वह काण्व में १०वां है।

२. काण्व में यह मन्त्र १४वां है और यहां जो १४वां है वह काण्व में ११वां है।

सब पदार्थ उत्पन्न होते उस कार्य-रूप सृष्टि (च) और उसके गुण-कर्म स्वभावों को तथा (विनाशम्) जिसमें पदार्थ अदृश्य हो जाते हैं उस कारण रूप जगत् (च) और उसके गुण-कर्म स्वभावों को (सह) एक साथ (उभयम्) दोनों (तत्) उन कार्य और कारण स्वरूपों को (वेद) जानता है वह विद्वान् (विनाशेन) नित्य स्वरूप जाने हुए कारण के साथ (मृत्युम्) शरीर छूटने के दुःख से (तीर्त्वा) पार होकर (सम्भूत्या) शरीर इन्द्रिय और अन्तःकरण रूप उत्पन्न हुई कार्य रूप धर्म में प्रवृत्त कराने वाली सृष्टि के साथ (अमृतम्) मोक्ष सुख को (अश्नुते) प्राप्त होता है ॥११॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! कार्य-कारणरूप वस्तु निरर्थक नहीं है किन्तु कार्य कारण के गुण कर्म और स्वभावों को जान कर धर्म आदि मोक्ष के साधनों में संयुक्त करके अपने शरीर आदि के कार्य कारण को नित्यत्व से जान के मरण का भय छोड़ कर मोक्ष की सिद्धि करो। इस प्रकार कार्य कारण से अन्य ही फल सिद्ध करना चाहिये। इस प्रकरण में ईश्वर के स्थान पर कार्यकारण इन दोनों की उपासना का ही निषेध किया है ऐसा समझना चाहिये ॥११॥

"अन्धन्तमः"—इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, आत्मा देवता, निचृदनुष्टुप् छन्द है। अब विद्या अविद्या की उपासना का फल कहते हैं—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ विद्यायाᳬरताः ॥१२॥

१. काण्व में यह मन्त्र ९वां है और जो यहां ९वां वह काण्व में १२वां है।
१. यह मन्त्र बृहदारण्यक उ. ४।४।१०।

भाष्य—(ये) जो मनुष्य (अविद्याम्[1]) अनित्य में नित्य, अशुद्ध में शुद्ध, दुःख में सुख और अनात्मा शरीरादि में आत्म-बुद्धि रूप अविद्या उसकी अर्थात् ज्ञानादि गुण रहित कारणरूप परमेश्वर से भिन्न जड़ वस्तु की (उपासते) उपासना करते हैं। वे (अन्धम् तमः) दृष्टि के रोकने वाले अन्धकार और अत्यन्त अज्ञान को (प्रविशन्ति) प्राप्त होते हैं और (ये) जो अपने आपको पण्डित मानने वाले (विद्यायाम्) शब्द, अर्थ और इनके सम्बन्ध के जानने मात्र अवैदिक आचरण में (रताः) रमण करते (ते) वे (उ) भी (ततः) उससे (भूय इव) अधिकतर (तमः) अज्ञानरूपी अन्धकार में प्रवेश करते हैं ॥१२॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालं०—जो २ चेतन ज्ञानादिगुणयुक्त वस्तु है वह जानने वाला जो अविद्या रूप है वह जानने योग्य है और जो चेतन ब्रह्म तथा विद्वान् का आत्मा है वह उपासना के योग्य है जो इससे भिन्न है वह उपास्य नहीं है किन्तु उपकार लेने योग्य है जो मनुष्य अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश नामक क्लेशों से युक्त हैं वे परमेश्वर को छोड़ इससे भिन्न जड़ वस्तु की उपासना कर महान् दुःख सागर में डूबते हैं और जो शब्द अर्थ का अन्वय मात्र संस्कृत पढ़ कर सत्यभाषण पक्षपात रहित न्याय का आचरण रूप धर्म नहीं करते अभिमान में आरूढ़ हुए विद्या का तिरस्कार कर अविद्या को ही मानते हैं वे अत्यन्त तमोगुण रूप दुःख सागर में निरन्तर पीड़ित होते हैं ॥१२॥

---

१. अनित्याशुचिदुःखात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या । योग सूत्र २।५

२. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः । योग सूत्र २।३

"अन्यदेव"—इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, आत्मा देवता, अनुष्टुप् छन्द है। अब जड़ चेतन का भेद कहते हैं।

अन्यदेवाहुर्विद्यायां[1] अन्यदाहुरविद्यायाः।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥[2]

भाष्य—हे मनुष्यो! (ये) जो विद्वान् लोग (नः) हमारे लिए (विचचक्षिरे) व्याख्या पूर्वक कहते थे (विद्यायाः) पूर्वोक्त विद्या का (अन्यत्) अन्य ही कार्य वा फल (आहुः) कहते हैं (अविद्यायाः) पूर्व मन्त्र से प्रतिपादन की अविद्या का (अन्यत्) अन्य फल (आहुः) कहते हैं इस प्रकार उन (धीराणाम्) आत्मज्ञानी विद्वानों से (तत्) उस वचन को हम लोग (शुश्रुम) सुनते थे। ऐसा जानो ॥१३॥

भावार्थ—ज्ञानादि गुणयुक्त चेतन से जो उपयोग होने योग्य है। वह अज्ञानयुक्त जड़ से कदादि नहीं और जो जड़ से प्रयोजन सिद्ध होता है, वह चेतन से नहीं। सब मनुष्यों को विद्वानों के संग, योग, विज्ञान और धर्माचरण से इन दोनों का विवेक करके दोनों से उपयोग लेना चाहिये ॥१३॥

"विद्याम्"—इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, आत्मा देवता, स्वराडुष्णिक् छन्द है। फिर उसी विषय को कहते हैं।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा, विद्ययामृतमश्नुते ॥१४॥[3]

---

१. काण्व पाठः—विद्ययान्यदाहुरविद्यया।
अर्थ—(विद्यया) विद्या से (अविद्यया) अविद्या से। (प्रो. राजाराम)

२. काण्व में यह मन्त्र १०वां है और यहां जो १०वां है काण्व में वह १३वां है।

३. काण्व में यह मन्त्र ११वां है जो यहां ११वां है वह काण्व में १४वां है।

भाष्य--(यः) जो विद्वान् (विद्याम्) पूर्वोक्त विद्या (च) और उसके सम्बन्धी साधन उपसाधनों (अविद्याम्) पूर्व कही अविद्या (च) और इसके उपयोगी साधन समूह को और (तत्) उस ध्यानगम्य मर्म (उभयं) इन दोनों को (सह) साथ ही (वेद) जानता है। वह (अविद्यया) शरीरादि सब जड पदार्थ समूह से किये पुरुषार्थ से (मृत्युम्) मरण दुःख के भय को (तीर्त्वा) उल्लंघ कर (विद्यया) आत्मा और शुद्ध अन्तःकरण के संयोग में जो धर्म उससे उत्पन्न हुए यथार्थ दर्शन रूप विद्या से (अमृतम्) नाश रहित अपने स्वरूप वा परमात्मा को (अश्नुते) प्राप्त होता है ॥१४॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्या और अविद्या को उनके स्वरूप से जान कर इनके जड़ चेतन साधक हैं ऐसा निश्चय कर सब शरीरादि जड़ पदार्थ और चेतन आत्मा को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिये साथ ही प्रयोग करते हैं वे लौकिक दुःख को छोड़ कर परमार्थ के सुख को प्राप्त होते हैं, जो जड़ प्रकृति आदि कारण वा शरीरादि कार्य न हो तो परमेश्वर जगत् की उत्पत्ति और जीव कर्म उपासना और ज्ञान के करने को कैसे समर्थ हों। इससे न केवल जड़ न केवल चेतन से अथवा न केवल कर्म से तथा न केवल ज्ञान से कोई भी धर्मादि पदार्थों की सिद्धि करने में समर्थ होता है ॥१४॥

"वायुः"—इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, आत्मा देवता, स्वराडुष्णिक् छन्द है अब देहान्त के समय क्या करना चाहिये इस विषय में कहा है।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर । क्लिबे स्मर । कृतꣳ स्मर ॥१५॥

भाष्य--हे (क्रतो) कर्म करने वाले जीव तू शरीर छूटते समय (ओ३म्) इस नाम के वाच्य ईश्वर को (स्मर) स्मरण कर (क्लिबे) अपने सामर्थ्य के लिये परमात्मा और अपने स्वरूप का (स्मर) स्मरण कर। (कृतम्) अपने किये का (स्मर) स्मरण कर। इस संस्कार का (वायुः) धनंजयादि रूप वायु (अनिलम्) कारण रूप वायु को (अमृतम्) अविनाशी कारण को धारण करता (अथ) इसके अनन्तर (इदम्) यह (शरीरम्) नष्ट होने वाला सुखादि का आश्रय शरीर (भस्मान्तम्) अन्त में भस्म होने वाला होता है ऐसा जानो ॥१५॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि जैसी मृत्यु समय में चित्तवृत्ति होती है और शरीर से आत्मा का पृथक् होना होता है वैसे ही इस समय भी जाने। इस शरीर की जलाने पर्य्यन्त क्रिया करें। जलाने के पश्चात् शरीर का कोई संस्कार न करें। वर्तमान समय में एक परमेश्वर की ही आज्ञा का

---

१. यह मन्त्र बृहदारण्यकोपनिषद् ५।१५।१। में भी आया है वहां इसका काण्वशाखीय पाठ है।

२. काण्व पाठ--ओ३म् क्रतो स्मर, कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर। (१७)।

अर्थ—(क्रतो) हे संकल्पमय मन! तू (ओम्) ओंकार का (स्मर) स्मरण कर (कृतꣳ स्मर) अपनी कमाई का स्मरण कर (क्रतो) हे संकल्पमय मन स्मरण कर (कृतं स्मर) अपनी कमाई का स्मरण कर। (प्रो. राजाराम)

३. काण्व में यह मन्त्र १७वां है जो यहां १७वां है, काण्व में उसका पूर्वार्द्ध १५वां और उत्तरार्द्ध कुछ पाठ भेद से १६वां है।

पालन उपासना और अपने सामर्थ्य को बढ़ाया करें। किया हुआ कर्म निष्फल नहीं होता ऐसा मान कर धर्म में रुचि और अधर्म में अप्रीति किया करें ॥१५॥

"अग्नेनय"—इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, आत्मा देवता, निचृत्त्रिष्टुप् छन्द है, ईश्वर किन मनुष्यों पर कृपा करता है इस विषय में कहा है।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव
वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते
नम उक्तिं विधेम ॥१६॥

भाष्य—हे (देव) दिव्य स्वरूप (अग्ने) स्व प्रकाश स्वरूप करुणामय जगदीश्वर जिससे हम लोग (ते) आपके लिए (भूयिष्ठाम्) अधिकतर (नम उक्तिम्) सत्कार पूर्वक प्रशंसा का (विधेम) सेवन करें। इससे (विद्वान्) सब को जानने वाले आप (अस्मत्) हम लोगों से (जुहुराणम्) कुटिलता-रूप (एनः) पापाचरण को (युयोधि) पृथक् कीजिये। (अस्मान्) हम जीवों को (राये) विज्ञान धन वा धन से हुए सुख के लिये (सुपथा) धर्मानुकूल मार्ग से (विश्वानि) समस्त (वयुनानि) प्रशस्त ज्ञानों को (नय) प्राप्त कराईये ॥१६॥

भावार्थ—जो सत्य भाव से परमेश्वर की उपासना करते यथाशक्ति उसकी आज्ञा का पालन करते और सर्वोपरि सत्कार के योग्य परमात्मा

काण्व पाठः—युयोध्युस्मज् तथा माध्यान्दिन पाठ युयोध्यस्मज् है। काण्व में यह मन्त्र १८वां है और वहां के १६वें का पूर्वार्द्ध अपना और उत्तरार्द्ध यहां के १७वें का कुछ भाग है।

यह मन्त्र बृहदारण्यकोपनिषद् ५।१५।१। में काण्वक्रमानुसार है।

को मानते हैं उनको दयालु ईश्वर पापाचरण मार्ग से पृथक् कर धर्मयुक्त मार्ग में चला के विज्ञान देकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध करने के लिए समर्थ करता है इससे एक अद्वितीय ईश्वर को छोड़ किसी की उपासना कदापि न करें ॥१६॥

"हिरण्मयेन" इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि, आत्मादेवता, अनुष्टुप् छन्द है। अब अन्त में मनुष्यों को ईश्वर उपदेश करता है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म ॥१७॥

भाष्य—हे **मनुष्यो! जिस (हिरण्मयेन) ज्योतिःस्वरूप (पात्रेण) रक्षक मुझ से (सत्यस्य) अविनाशी यथार्थ कारण के (अपिहितम्) आच्छादित (मुखम्) मुख के तुल्य उत्तम अंग का प्रकाश किया जाता (यः) जो (असौ) वह (आदित्ये) प्राण वा सूर्य मण्डल में (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा है (सः) वह**

यह मन्त्र बृहदारण्यक ५।१५।१। में भी काण्व पाठानुसारी है।

काण्व शाखा में इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध वहां १५वें मन्त्र का पूर्वार्द्ध है और उत्तरार्द्ध पाठभेद से वहां के १६वें मन्त्र में आता है। इस प्रकार वहां दो मन्त्र हो जाने से माध्यन्दिन में १७ और काण्व में १८ मन्त्र हैं।

काण्व पाठ—(हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।)
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।१५।
पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्त्समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ।१६।

काण्व पाठ का अर्थ—(पूषन्) हे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के पोषक परमात्मन् (तत्) उसको (त्वं) तू (सत्य धर्माय) सत्य धर्म के (दृष्टये) दर्शन के लिये (अपावृणु) खोल दे।

(असौ) परोक्ष रूप (अहम्) मैं (खम्) आकाश के तुल्य व्यापक (ब्रह्म) सब से गुण कर्म और स्वरूप करके अधिक हूँ (ओ३म्) सब का रक्षक जो मैं उसका "ओ३म्" ऐसा नाम जानो।१७।

भावार्थ—सब मनुष्यों के प्रति ईश्वर उपदेश करता है कि हे मनुष्यो!

भाष्य—हे परमात्मन् हमारे मोह को निवृत्त करो ताकि हम आपके दर्शन करें (१५)। म. म. आर्य मुनिः

काण्व पाठ—(पूषन्) हे पुष्टिकारक (एकर्षे) हे एकमात्र गतिशील (यम) हे सब को नियम में रखने वाले (सूर्य) हे सर्वोत्पादक (प्राजापत्य) हे सब के स्वामिन् परमात्मन् (रश्मीन्) उक्त हिरण्मय पात्र की प्रलोभन रूप रश्मियों को (व्यूह) उपसंहार कर (समूह) भले प्रकार उपसंहार कर ताकि (ते) तेरा (तेजः) तेजोमय (रूपं) रूप (यत्) जो (कल्याणतमं) अति कल्याण का दाता है (ते) तेरे (तत्) उस रूप को (यः) जो (असौ असौ) वह वह (पुरुषः) पुरुष है (सः) वह (अहम् अस्मि) मैं होऊं, इस भाव से (पश्यामि) देखूं (१६)।

म. म. आर्य मुनि

भाष्य—इस मन्त्र में परमात्मा के कल्याणादि गुणों को वर्णन करके इस बात का वर्णन किया है कि जो उक्त कल्याणादि गुणों वाला पुरुष है वह मैं होऊं अर्थात् परमात्मा के कल्याणादि गुणों को धारण करके मैं वह पुरुष होऊं। यहां तद्धर्मतापत्ति द्वारा उसके अपहतपाप्मादि धर्मों को लाभ करके तद्रूप होना वेद ने वर्णन किया है। जिस के अर्थ जीव के ब्रह्म बन जाने के नहीं किन्तु ब्रह्म के भावों को लाभ करने के हैं। जैसा कि **शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशोवामदेववत्** ब्र. सू. १।१।३०। इत्यादि सूत्रों में महर्षि व्यास ने वर्णन किया है कि ईश्वर के गुणों को लाभ करके ही वामदेवादिकों ने अपने आपको ब्रह्मरूप कथन किया है ॥१६॥

म. म. आर्य मुनि

जो मैं यहां हूं वही अन्यत्र सूर्यादि लोक में जो अन्य स्थान सूर्यादि लोक में हूं वही यहां हूं सर्वत्र परिपूर्ण आकाश के तुल्य व्यापक मुझ से भिन्न कोई बड़ा नहीं मैं ही सब से बड़ा हूं मेरे सुलक्षणों से युक्त पुत्र के तुल्य प्राणों से प्यारा मेरा निज का नाम "ओ३म्" यह है। जो मेरा प्रेम और सत्याचरण भाव से शरण लेता है उसकी अन्तर्यामी रूप से मैं अविद्या का विनाश कर उसके आत्मा का प्रकाश करके शुभ गुणकर्म स्वभाव वाला कर सत्य स्वरूप का अवरण स्थिर कर शुद्ध योग से हुए विज्ञान को दे और सब दुःखों से अलग करके मोक्ष सुख को प्राप्त करता हूं। १७। इति।

सब मन्त्रों का भाव—इस अध्याय में ईश्वर के गुणों का वर्णन, अधर्म त्याग का उपदेश, सब काल में सत्कर्म के अनुष्ठान की आवश्यकता अधर्माचरण की निन्दा, परमेश्वर के अति सूक्ष्म स्वरूप का वर्णन, विद्वान् को जानने योग्य का होना, अविद्वान् को अज्ञेयपन का होना, सर्वत्र आत्मा जान के अहिंसा धर्म की रक्षा, उस से मोह शोकादि का त्याग, ईश्वर का जन्मादि दोष रहित होना, वेद विद्या का उपदेश, कार्यकारणरूप जड़ जगत् की उपासना का निषेध, उन कार्य कारणों से मृत्यु का निवारण करके मोक्षादि सिद्धि करना, जड़ वस्तु की उपासना का निषेध, चेतन की उपासना की विधि, उन जड़ चेतन दोनों के स्वरूप के जानने की आवश्यकता, शरीर के स्वभाव का वर्णन, समाधि से परमेश्वर को अपने आत्मा में धर के शरीर त्यागना, शरीर दाहके पश्चात् अन्य क्रिया के अनुष्ठान का निषेध अधर्म के त्याग और धर्म के बढ़ाने के लिये परमेश्वर की प्रार्थना, ईश्वर के स्वरूप का वर्णन और सब नामों से 'ओ३म्' इस नाम की उत्तमता का प्रतिपादन किया है।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीपरमविदुषां विरजानन्द-
सरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वती-
स्वामिना निर्मितमार्यभाषाभाष्यं समाप्तम्।

द्वितीयो भागः

द्वितीयो भागः

ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।बृ. उ. ५।१।१

अर्थ—(अदः पूर्णम्) वह [ब्रह्म] पूर्ण है। (इदम्-पूर्णम्) यह [जगत्] भी पूर्ण है। (पूर्णात्) पूर्ण [ब्रह्म] से (पूर्णम्) पूर्ण (उदच्यते) प्रकट होता है। (पूर्णस्य) पूर्ण की (पूर्णम्) पूर्णता को (आदाय) लेने पर (पूर्णम्) पूर्ण (एव) ही (अव-शिष्यते) शेष रहता है।

---

१. इस भाग में भिन्न २ भाष्य तथा टीकाकारों द्वारा किये कुछ विशेष पदों का अति संक्षिप्त भावानुवाद वा अनुवाद है। प्राक्कथन में उन विद्वानों के नाम लिख दिये गये हैं जिनके ग्रन्थों में से मैंने यह सब लिया है। पाठक कृपया उन महानुभावों के साथ श्री वेङ्कट नाथ, योगीराज अरविन्द तथा ब्रह्ममुनि और जोड़ लें। इनका भी मैं आभारी हूँ। इस भाग का अक्षरार्थ भी प्राक्कथन में कहे विद्वानों में से किसी न किसी का है। मेरा नहीं। —'बन्धुः'

२. उपनिषदों के आदि तथा अन्त में शान्तिपाठ पढ़ने की प्राचीन प्रथा है। मुक्तोपनिषद् श्लोक ५२ के अनुसार "ईशावास्यादि" उन्नीस शुक्लयजुर्वेदी उपनिषदों का "पूर्णमदः" यह शान्तिपाठ होने से इस ईशावास्योपनिषद् में भी यह "पूर्णमदः" मन्त्र शान्तिपाठ के रूप में लिख दिया है।

पहला मन्त्र

[1]मन्त्रद्रष्टा–**ईशावास्यादि** इन सभी मन्त्रों का बहुमत से 'दध्यङ्ङाथर्वण' ऋषि है।

पृ. ११ ईशावास्यमिति—

पदार्थ—**(यत् किंच) जो कुछ (जगत्याम्) सृष्टि में (जगत्) परिवर्तनशील है (इदं सर्वम्) यह सब (ईशावास्यम्) ईश्वर से आच्छादित है [ईश्वर उस पर छाया हुआ है, यह सब उसके अधिकार में है अर्थात् ईश्वर जगत् का स्वामी है] (तेन) तिससे (त्यक्तेन) [अपने अधिकृत पदार्थों पर से भी अपने स्वामीपन का अभिमान] छोड़ कर--अथवा (क्योंकि संसार में सभी कुछ ईश्वर का है) अतः (तेन) उस ईश्वर से (त्यक्तेन) दिये हुए का (भुञ्जीथाः) तू उपभोग कर। (कस्यस्वित्)**

---

१. मन्त्र-द्रष्टा को ऋषि कहते हैं—ईशावास्यादि इन, ४०वें अध्याय के, सभी मन्त्रों का—

(क) दीर्घतमा "ऋषि" महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं।

(ख) द्वैताचार्य मध्वाचार्य श्रीमदानन्दतीर्थ "स्वयंभुवो मनुरेतैर्मन्त्रैः" कहकर "ईशावास्यं" का ऋषि स्वयंभू मनु को मानते हैं।

(ग) और माध्यन्दिन के भाष्यकार उवट तथा महीधर एवं काण्व के भाष्यकार आनन्दभट्ट तथा अनन्ताचार्य ये चारों यजुर्वेद की सर्वानुक्रमणी के अनुसार इस ४०वें अध्याय का "दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि कहते हैं।

(घ) यजुर्वेद-सर्वानुक्रमणी में लिखा है—

"ऋचं वाचं" (३६) 'देवस्य त्वा द्वे' (३७-३८) स्वाहा प्राणेभ्यः (३९) ईशावास्यमितीमां (४०) पञ्चाध्यायीं अग्निका (३९-७) अश्वमेधिक (३९-८) मन्त्रवर्जिताथर्वणः पुत्रो दध्यङ् ऋषिर्ददर्श।

किसी दूसरे के (धनं) धन का (मा) मत (गृधः) लालच कर। अथवा (मा गृधः) लालच मत कर (धनं कस्यस्वित्) धन किसका है ? अर्थात् किसी का नहीं।

शिक्षा—१. ईश्वर सर्वव्यापक है। २. जो कुछ संसार में है, उस सबका स्वामी वही है। ३. मनुष्य को बुद्धि, श्रम, दाय, दान वा दैव से जो कुछ प्राप्त हो उस पर से स्वत्व का अभिमान छोड़ उसमें से दूसरों को देकर ही वह उसका उपभोग करे। ४. लालच के कारण छल, बल या कौशल से दूसरों के उपभोगों को न छीने।

सिद्धान्त—त्रैतवाद—इस मन्त्र में (ईशा) से ईश्वर (जगत्यां) से प्रकृति और "भुञ्जीथाः" के कर्ता (त्वम्) से जीव तीनों का वर्णन होने से त्रैतवाद ही वैदिक है। यही सिद्ध होता है।

अन्य सम्प्रदायों द्वारा प्रदर्शित इस मन्त्र का संक्षिप्त आशय

अद्वैत—जीव और ईश्वर को एक मान; अपने आत्मरूप ईश्वर से यह मिथ्या जगत् आच्छादन करने = ढांपने अर्थात् खो देने योग्य है और उस जगत् के त्याग से अर्थात् जगत् की कोई पृथक् परमार्थ सत्ता भी है, इस भावना के (त्यक्तेन) त्याग से (भुञ्जीथाः) (अपने आत्मा की) रक्षा कर अर्थात् उसे मुक्ति पथ का पथिक बना। १ एषणा रहित होजा, मिथ्या-पदार्थ-विषयक आकांक्षा मत कर। (१)

विशिष्टाद्वैत—ये सब जीव और जड जगत् ब्रह्म के शरीर होने से उस ईश (ब्रह्म) से व्याप्य हैं अर्थात् शरीर में आत्मा की भान्ति इनमें ईश्वर व्यापक है। अतः जीव को, ईश्वराधीन होने से, चाहिये कि भक्ति के साधनरूप शरीर की रक्षा के लिये वैराग्य की भावना से (१. स्वल्प, २. अस्थिर, ३. दुःखमूलक, ४. दुःख-मिश्रित, ५. दुःखांत, ६. देह में आत्मबुद्धि उपजाने वाले और ७. स्वाभाविक ब्रह्मानन्द के विरोधी इन) सात दोषों से युक्त सांसारिक विषयों को जान, उनमें आसक्ति छोड़कर उनका उपभोग करे।१।

शुद्धाद्वैत—ईश्वर माया से ढंपा नहीं, वह शुद्ध है; और उस ईश द्वारा अपने रमण के लिये प्रकट किया हुआ, यह जगत् भी (वास्यं) वास्तविक है, अर्थात् ईश्वर का क्रीडास्थल जगत् सत्य है मिथ्या नहीं।

अथवा—ईश द्वारा यह सब जगत् (वास्यम्) भोजन-आछादन के द्वारा रक्षा के योग्य है अर्थात् ईश्वर सब जीवों को जीवनोपयोगी भोजन-आच्छादन सदा देता ही है। देखो गीता "योगक्षेमं वहाम्यहम्"। ९।२२।

द्वैत—श्री शंकराचार्य, उवट, महीधर, स्वामी दयानन्द, आनन्दभट्ट, अनन्ताचार्य वेंकटनाथ, रघुनाथांगिरस आदि अनेक विद्वानों ने (ईशा और वास्यम्) में दो पद मानकर उनका अर्थ किया है; परन्तु श्री मध्वाचार्य ईशावास्यम् को एक समस्त पद मानकर उसका विग्रह इस प्रकार करते हैं- (ईशस्य-आवासयोग्यमीशावास्यम्) और एक पद मानने में कारण यह बतलाते हैं, कि भागवत में इसी मन्त्र का अनुवाद इस प्रकार है—

आत्मावास्यमिदं विश्वं, यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।

भागवत ८।१।१०

यदि "ईशा" और "वास्यम्" दो पदों का यह भागवत में अनुवाद किया होता, तो श्री वेदव्यास "आत्मावास्यम्" न लिख कर "आत्म-वास्यम्" ऐसा अनुवाद करते। अतः यह समस्त एक पद है और इसका विग्रह "ईशस्य आवास्यं" ही करना चाहिये।

शैव—शैव लोगों का कहना है, कि "ईश" शब्द शिव का वाचक प्रसिद्ध होने से यह मन्त्र शिवपरक है।

शाक्त—"ईशाया+आवास्यम्" यह विग्रह करके "ईशा=पराशक्ति अर्थात् दुर्गा। यह अर्थ कर इसे अपने संप्रदाय का पोषक बतलाते हैं।

श्रीपाद—"ईशा वास्यं इदं जगत्" स्वतन्त्र नियामक होकर ही रहने योग्य यह जगत् है। परतन्त्र गुलाम बने हुए के रहने योग्य यह जगत् नहीं।

दिगम्बरानुचर—वासना बनी रहने से पुत्रकलत्रादि का त्याग तो सर्वसाधारण के लिये अशक्य है, परन्तु यह सब ईश्वर का है, वा ईश्वर ही है, इस भावना से जो समता आ जाती है, उस से अहंकार और ममता मिट सकती है।

एक कहते हैं—यद्यपि "भुज्" धातु के पालन और भोजन दोनों ही अर्थ हैं तथापि "भुजो अनवने" पाणिनि १।३।६६ सूत्र के अनुसार पालन (रक्षण) अर्थ में उसे आत्मनेपद नहीं होता, क्योंकि यहां मन्त्र में "भुञ्जीथाः" यह आत्मनेपद का प्रयोग है। अतः इसका पालन अर्थ नहीं हो सकता।

काण्व भाष्यकार आनन्दभट्ट—का कहना है, कि वेद में पालन अर्थ में भी "भुज्" धातु को आत्मनेपद हो जाता है।

इस मन्त्र की गीता में व्याख्यायें—मया ततमिदं सर्वं जगत्। ९।४। विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन। १०।४२। संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा ६।२४। भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्। ३।१३। यदृच्छालाभसंतुष्टः। ४।२२।

ब्रह्माण्डपुराण—

स्वतः प्रवृत्त्यशक्तत्वात्तदीयं सर्वमेव यत्।
तद्दत्तेनैव भुञ्जीथा अतो नान्यं प्रयाचयेत्॥१॥

दूसरा मन्त्र

पृ. १२ कुर्वन्नेवेहेति—

प्रसंग-संगति—श्रुति पहले मन्त्र में उपभोग की विधि बतांकर इस मन्त्र में कर्म करने की रीति बतलाती है—

पदार्थ--(इह) इस संसार में (कर्माणि) [वेदशास्त्र-विहित नित्यनैमित्तिक कर्म यद्वा ईश्वर-प्रीति के लिये ईश्वरार्पण कर्म अथवा निष्काम] कर्म (कुर्वन्) करता हुआ (एव) ही (शतं समाः) सौ वर्ष (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे। (एवं) इस प्रकार कर्म करने से (नरे) [जो ज्ञान में विघ्न करने वाले कर्म फलों में (न-र=) न रमण करे उसे न-र कहते हैं] ऐसे (त्वयि) तुझ नर में (कर्म) कर्म (न लिप्यते) लिप्त नहीं होता। अर्थात् कर्म अन्तःकरण पर अशुभ प्रभाव नहीं डालता। (इतः) इस प्रकार से (अन्यथा) दूसरा प्रकार (नास्ति) नहीं है (जिस से मन पर कर्म का लेप न हो) ।२।

शिक्षा—१ सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। २ आयु भर कर्तव्य कर्म करता रहे। ३ कर्तव्य कर्म का कभी त्याग न करे।

अन्यान्य संप्रदायों द्वारा प्रदर्शित इस मन्त्र की संगति।

अद्वैत—पहले मन्त्र में आत्मज्ञानी के लिये उपदेश है और इस दूसरे में जो आत्मतत्त्व को ग्रहण करने में असमर्थ हैं, उनके लिये कर्म करने को कहा है, जैसे महाभारत में कहा है—

द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तौ च सुभाषितः॥

महा० शां० प० २४१।६

गीता में भी कहा है "लोकेऽस्मिन्" ३।३। यही बात इस मन्त्र के "जिजीविषेत्" पद से प्रकट की गई है, कि जिस में जीने की इच्छा है वह कर्म करे। अतः अर्थापत्ति से यह स्वयं सिद्ध होगया कि जो जीने

---

१. अकरणे प्रत्यवायानुबन्धित्वं, प्रत्यवायजनकीभूताभावप्रतियोगित्वम् वा। यथा सन्ध्यादि।

२. कुतश्चिन्निमित्तात्कृतम् यथा पुत्रेष्ट्यादि।

३. विद्या-विरुद्धेषु कर्मफलेषु न-रमते इति नरः (वे. दे. भा.)।

मरने का मोह त्याग चुका है, वह पहले मन्त्र के अनुसार आचरण करे।

विशिष्टाद्वैत—ज्ञानी को भी कर्म-फल की आसक्ति छोड़ कर ज्ञान के अङ्गभूत नित्य नैमित्तिक कर्म आयु भर करते रहना चाहियें। देखो गीता--"**कुर्याद्विद्वांस्तथा सक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।**" ३।२५ और जो किसी ने यह कहा है, कि ज्ञानी कर्म न करे, यह इसी उपनिषद् के "**विद्यां च अविद्यां**" इस १४ वें मन्त्र के विरुद्ध है। दूसरे श्री कृष्ण जी से बढ़कर ज्ञानी कौन ? उन्होंने स्वयं कहा है कि "**वर्त एव च कर्मणि**" ३।२२। मैं कर्म करता हूँ।

शुद्धाद्वैत—कर्मों का करना स्वाभाविक है "**नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्**" गी० ३।५। उनका त्याग किसी अवस्था में भी नहीं किया जा सकता "**नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं**" गी० १८।११। और परमेश्वर की सेवा तथा प्रसन्नता के लिये किये कर्म मोक्ष में बाधक नहीं होते। देखो गीता—"**अनन्येनैव योगेन**" १२।६। "**तेषामहं समुद्धर्ता**" ।१२।७।।

द्वैत—उपदेश किया तत्त्व भी स्वकर्मों के अनुष्ठान से शुद्ध हृदय वाले में ही टिकता है। अशुद्ध हृदय में नहीं। अतः चित्त-शुद्धि के लिये कर्म करे। देखो गीता—"**योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये**" ५।११ तथा ६।३ और १८।५।

अपने-अपने मतानुसार भिन्न-भिन्न कुछ पदों के आशय

अद्वैत—"जिजीविषेत्" जीना चाहने वाले अर्थात् संसार में आसक्त रागी के लिये ही कर्मों का विधान है, त्यागी के लिये नहीं।

विशिष्टाद्वैत—ब्रह्मज्ञानी को भी ज्ञान की पूर्ति के लिये जीने की इच्छा रहती है, अतः नित्य-नैमित्तिक कर्म आयु भर करते ही रहना चाहिये।

शुद्धाद्वैत—(कर्माणि) "तत्कर्म हरितोषं हि यत्" इस वचन के अनुसार उसी काम का नाम कर्म है जिस के करने से भगवान् की प्रसन्नता वा सेवा हो। दूसरे तो कर्म नहीं, विकर्म हैं। अतः वह कर्म करे ही।

विशिष्टाद्वैत—"न कर्म लिप्यते" फल की इच्छा से किया हुआ कर्म ही अपनी सिद्धि-असिद्धि द्वारा मन पर सुख-दुःख का प्रभाव डालता है। उपनिषद् विद्या ने पुरुष को यह एक गुप्त रहस्य बतलाया है कि फल की इच्छा छोड़ कर निष्काम कर्म करो। वह मन पर प्रभाव नहीं डालेंगे। यही इस विद्या का महत्त्व है।

द्वैत—"कुर्वन्नेवेह" में कर्म शब्द से पाप कर्मों का ग्रहण होगा वा स्वोचित कर्तव्य कर्मों का, यदि, पाप कर्मों का कहो तो यह अर्थ हुआ कि पाप कर्म करते हुए भी "न लिप्यते" पाप का लेप नहीं होता, परन्तु यह तो बहुत असंगत अर्थ हो जायेगा और यदि दूसरा कहो तो स्वोचित कर्तव्य करने वाले को पाप लगेगा ही कैसे ? जिस का इस मन्त्र में "न लिप्यते" द्वारा निषेध करना पड़ा। अतः इसका अर्थ यों करना चाहिये। मन्त्र में पड़े दो "नञों" का इस प्रकार अन्वय करो "अन्यथा कर्म न लिप्यते इति नास्ति" तब यह अर्थ होगा कि भगवत्पूजा सेवारूप निष्काम कर्म करता रहे। ऐसा करने से पाप नहीं लगेगा। इसके (अन्यथा कर्म न लिप्यते इति नास्ति) सिवाय कर्म अपना लेप अर्थात् पुरुष के अन्तःकरण पर अशुभ प्रभाव न डाले, यह हो ही नहीं सकता।

श्रीपाद—इस मन्त्र में कहा है कि (एवं) इस प्रकार कर्म करने से कर्मों का लेप नहीं होगा, परन्तु किस प्रकार कर्म करने चाहियें, यह तो यहां बतलाया ही नहीं। यों शंका करके स्वयं ही उन्होंने यह समाधान किया है—कि पहले मन्त्र में ईश्वर को सर्वव्यापक मान कर निष्काम और निःस्वार्थ भाव से जगत् का उपभोग कर यह कहा गया है। अब कहते हैं कि "एवं" इस प्रकार अर्थात् निष्कामभाव से कर्म कर। कर्म करने की विधि यही है। इसी के लिये यहां "एवं" पद आया है और यह आशय उक्त दो मन्त्रों को इकट्ठा मिला कर पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है।

शंकरानन्द—"शतं समाः" सौ वर्ष तक शास्त्रानुसार कर्म करने के अभ्यास से तुझ अधिकारी में धन के विषय में वैराग्य उत्पन्न होगा और चित्त-शुद्धि भी हो जायेगी। यही देर तक कर्म करने के आदेश का कारण है।

ब्रह्मानन्द—"कुर्वन् एव" एव का अर्थ निरन्तर है। भाव यह कि निरन्तर और (शतं समाः) [शतायुर्वै पुरुषः ऐ० २।१७। कौ० ११।७] आयु भर सत् कर्म करने से ही सिद्धि होती है। यही मन्त्र का आशय है।

उवट—"पुरुषव्यत्ययः, प्रत्यक्षकृतत्वात् मन्त्रस्य इति" भाव यह कि जिसे पहले मन्त्र में कहा गया है, कि तू त्याग-पूर्वक भोग कर उसी के लिये इस दूसरे मन्त्र में कहा है कि तू कर्म करता हुआ, जीने की इच्छा कर। इस लिये "जीने की इच्छा करे" यह नहीं, किन्तु जीने की इच्छा कर यह अर्थ प्रकरणानुरोध से होगा। अतः "जिजीविषेत्" इस प्रथम पुरुष की क्रिया को "जिजीविषेः" यों मध्यम-पुरुष की क्रिया में बदल कर अर्थ करना चाहिये।

यदि प्रथम-पुरुष को मध्यम में न बदलना हो, तो "जिजीविषेत्" का कर्ता "भवान्" मान कर आप जीने की इच्छा करें। यह अर्थ करना चाहिये।

शंकरानन्द—"ईशावास्यम्" और "कुर्वन्नेवेह" इन दो मन्त्रों में ही सब बात आ गई है। इस उपनिषद् के शेष मन्त्र तो इन्हीं दो मन्त्रों के व्याख्या रूप हैं।[1]

कुर्वन्नेवेह कर्माणि—गीता में इस मन्त्र की व्याख्या

कर्म करें—कर्मणैव ३।२०। कुरु कर्मैव ४।१५। **चित्त-शुद्धि होती है**—योगिनः ५।११ यज्ञो दानं १८।५ **आत्मोन्नति होती है**—आरु-

१. सूत्रभूतावेतौ मन्त्रौ शिष्टमेतयोरेव व्याख्यानम्। —शंकरानन्दः

रक्षोर्मुनेः ६।३ (विहित कर्म) ज्ञात्वा शास्त्र. १६।२४ (नित्य कर्म) नियतं कुरु ३।८ नियतस्य १८।७। (निष्काम कर्म) कर्मण्येव २।४७ योगस्थः २।४८ तस्मादसक्तः ३।१९। अनाश्रितः कर्म. ।६।१। सर्वकर्मफलत्यागं ।१२।११। (ईश्वरार्पण कर्म) ब्रह्मण्याधाय ५।१०। ये तु सर्वाणि १२।६। मदर्थमपि १२।१० ।

न कर्म लिप्यते नरे—कुर्वन्नपि न लिप्यते ५।७। लिप्यते न स ५।१०। मुच्यन्ते तेऽपि ३।३१। कर्मभिर्न ४।१४। नैव किंचित् ४।२०। आत्मवन्तम् ४।४१। कुर्वन्नाप्नोति १८।४७। इति ॥२॥

तीसरा मन्त्र

पृ. १३ असुर्या इति—

प्रसंग-संगति—पहले दो मन्त्रों में कहे अनुसार आचरण न करने वालों की क्या दशा होती है, यह इस मन्त्र में बतलाया गया है।

पदार्थ—(ते) वे (अन्धेन) घने [जहां कर्तव्य बिल्कुल नहीं सूझता ऐसे] (तमसा[1]) अन्धेरे अज्ञान वा तमो गुण से (आवृताः) आच्छादित = ढंपी (असुर्याः) असुर प्रवृत्ति की (नाम) प्रसिद्ध (लोकाः[2]) योनियां हैं। (तान्) उनको (प्रेत्य) मर कर (ते) वे (जनाः) मनुष्य (अपि गच्छन्ति[3]) प्राप्त होते हैं। (ये[4] के च) जो कोई (आत्महनः) आत्मा का हनन करने वाले हैं। अर्थात् (मोक्ष का साधन) नर-शरीर पाकर भी जो काम्य तथा निषिद्ध कर्म करने के कारण अपनी आत्मोन्नति के बाधक बनते हैं। वही "आत्महन" कहलाते हैं।

---

१. तमो ध्वान्ते गुणे शोके क्लीबं वा ना विधुंतुदे । इति मेदिनी ।

२. श्वसूकरादिदेहरूपास्ते लोकाः । इति शंकरानन्दः।

३. अपि गच्छन्ति = प्राप्नुवन्ति । इति महीधरः ।

४. (ये के च) ये केचित् । इति महीधरः ।

(अपि) शब्द से यह भी आशय निकलता है, कि वे लोग जीते जी तो आसुरी स्वभाव स्वार्थ, मोह, अविवेक और अज्ञान से घिरे रहते ही हैं, परन्तु मर कर भी उन्हें उन्हीं योनियों में जाना पड़ता है ।३।

पाठान्तर—काण्व शाखा में—"अपि गच्छन्ति" के स्थान पर "अभि गच्छन्ति" पाठ है। अतः--"तान् अभिगच्छन्ति" का अर्थ हुआ, उन योनियों में सीधे जाते हैं ।३।

टीकाकारों के अपने-अपने मतानुसार कुछ भिन्न-भिन्न शब्दों के संक्षिप्तार्थ

अनन्ताचार्य—(असुर्याः[1]) असुरों की प्रकृति वाले (अर्थात् केवल अपने प्राणों के पोषण में सदा लगे रहने वाले स्वार्थी अज्ञानी।

रघुनाथतीर्थ—(असुर्याः[2]) सुखरहित महादुःखदायी।

रघुनाथांगिरस—(असुर्याः) बृहदारण्यक ६।४।१ में यही मन्त्र—

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।
ताᳫं स्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाᳫंसोऽबुधा जनाः।

इस प्रकार आया है और विज्ञों से यह छुपा नहीं कि बृहदारण्यक, ईशावास्य की ही एक विस्तृत व्याख्या है और उसमें 'असुर्याः' के स्थान पर 'अनन्दा[3]' और 'आत्महनः' की जगह 'अविद्वांसः' 'अबुधा जनाः' आया है। जो उन पदों की व्याख्या ही है इसलिये 'असुर्याः' का अर्थ ही दुःख है। अतः 'असुर्या नाम ते लोकाः' का अर्थ है—वे दुःखमय शास्त्र-प्रसिद्ध लोक।

---

१. असुर्या असुराणामिमेऽसुर्याः, असुषु प्राणेष्वरमन्त इत्यसुराः प्राण-पोषण-मात्रपराः अज्ञानिनः (अद्वै.)।

२. सुष्टु रमणं = सुर्यं तद्विरुद्धमहादुःखहेतुत्वादसुर्याः (द्वै.)।

३. न = नन्दयन्तीति, अनन्दाः। (आनन्दभिन्ने दुःखे वर्तते)।

श्री अरविन्द--मूल में 'असुर्याः' के स्थान पर 'असूर्याः' पाठ मानते हैं। उनका कहना है कि "यह तीसरा मन्त्र उपनिषद् की विचारधारा में अन्त के चार मन्त्रों में निरूपित अन्तिम विचारधारा के लिए आरम्भ-बिन्दु है।......अन्य उपनिषदों में भी तेजोमय लोकों का, सूर्य और उसकी किरणों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा उनका स्वभाव विरोधी भाव तम और सूर्य हीन है, न कि आसुरी लोक।

श्री वेङ्कटनाथ--असुर्या नाम के नरक शास्त्र में प्रसिद्ध हैं, यह अर्थ करते हैं।

"आत्महनः" इस मन्त्र में "आत्महनः" यह एक विशेष विचारणीय शब्द है। क्योंकि अमर आत्मा को कोई मार तो सकता नहीं फिर 'आत्महनः' शब्द का क्या अर्थ होगा? इसके सभी संप्रदायों ने अपने-अपने सिद्धान्त के परिपोषक अर्थ निकाले हैं।

अद्वैत--"ब्रह्म-रूप होने से मैं ही सब कुछ हूँ" इस ज्ञान से शून्य तथा आत्मा में भेद बुद्धि रखने वाले अविद्या-रूप दोष के कारण आत्मा को कर्ता, भोक्ता और मरणधर्मा मानने वाले अज्ञानी 'आत्महा' कहलाते हैं।

विशिष्टाद्वैत--ब्रह्मज्ञानविहीन ब्रह्म को असत् मानने वाले तथा काम्य और निषिद्ध कर्मों में रत 'आत्महा' होते हैं।

शुद्धाद्वैत--भगवान् की भक्ति तथा गुणानुवाद से विमुख 'आत्महा' कहलाते हैं।

---

१. तारानाथ ने वाचस्पत्य (कोश) में आत्मघात शब्द पर ऐसा पाठ दिया हुआ भी है--

असूर्या नाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ वाचस्पत्यकोशे।

२. याज्ञवल्क्यस्मृति ३।२२–२२४।

द्वैत--शास्त्र में भगवान् का जो स्वरूप है। उसका तिरस्कार कर अपने आपको भगवान् मानने वाले या उलटी तरह उपासना करने वाले 'आत्महा' हैं।

स्मार्त—इस उपनिषद् में पहले कहा गया है, कि सौ वर्ष जीने की इच्छा कर और "**आत्मा वै तनूः**" श. ६।२।२।१३ के इस प्रमाण से आत्मा शरीर को भी कहते हैं, अतः अपने शरीर से प्राणों को दुःख या क्रोध आदि के कारण वियुक्त करने वाले को 'आत्महा' कहा गया है।

श्रौत—"अनन्दाः नाम ते लोकाः" बृहदारण्यक (६।४।१) की इस श्रुति में आत्महनः का अर्थ किया है 'अबुधाः', अतः अविद्वान् अज्ञानी को आत्महन् कहते हैं।

श्री शंकराचार्य--ने कहा है--कि जो मनुष्य जन्म पाकर और शास्त्र पढ़ कर भी मुक्ति के लिये प्रयत्नशील नहीं होते वही 'आत्महा' हैं।

महीधर--'यत्तदोर्व्यत्ययः' कह कर 'ते लोकाः' के 'ते' को 'ये' में बदल कर जो लोक अर्थ करते हैं।

गीता में इस मन्त्र के आधार पर श्लोक--

(आसुरी प्रकृति) आसुरीं चैव।९।१२। आसुरं भावमाश्रिताः।७।१५। १६।५-७-१९। (तमसावृताः) तमसि, १४।१५-१६। (आत्मा) उद्धरेदात्मान. ६।५। न हिनस्त्यात्मना १३।२८।

चौथा मन्त्र

पृष्ठ १४ अनेजदेकमिति-

प्रसंग-संगति—उस परम तत्व के स्वरूप का वर्णन—

अर्थ—(**अनेजत्**) [**ब्रह्म**] **कम्प-रहित है अथवा सर्वव्यापक होने से निश्चल है। (एकम्) [ब्रह्म] एक है-प्रधान है। अथवा अद्वितीय है।**

(ब्रह्म का लक्षण होगया, तो क्या मनुष्य के मन की कल्पना के अन्दर वह ब्रह्म आ सकता है?

श्रुति इसका उत्तर देती है। नहीं), क्योंकि (मनसः) मनः से (जवीयः) अधिक वेग वाला है। [इस लिये मन उस तक पहुंच नहीं सकता अर्थात् ब्रह्म को मनुष्य का मन अपनी दौड़ (कल्पना) से नहीं पकड़ सकता]। (देवाः) चक्षु वाणी आदि इन्द्रियां (एनत्) उस ब्रह्म को (न) नहीं (आप्नुवत्) प्राप्त कर सकतीं। यद्यपि जहां तक [मन वा इन्द्रियों की पहुंच है वहां वह] (पूर्वम्) पहले ही (अर्शत्) गया हुआ है अर्थात् वह अपनी व्यापकता के कारण सर्वत्र होने से वहां भी पहले से ही विद्यमान होता है परन्तु चित्त-शुद्धि, ज्ञान वा भक्ति के विना मन आदि इन्द्रियां उसे प्राप्त नहीं कर सकतीं।

(तत्) वह [ब्रह्म] (तिष्ठत्) ठहरा हुआ (अन्यान्) दूसरे मन वाणी आदि (धावतः) दौड़ने वालों से व्यापक होने के कारण (अति-एति) लांघ जाता है। अथवा (तत् तिष्ठत्) वह निश्चल ब्रह्म (अन्यान्) और मन बुद्धि आदि विषयों में (धावतः) भटकने वाले चंचलों से (अति-एति) परे चला जाता है। अर्थात् उन्हें प्राप्त नहीं होता (तस्मिन्) इसी ब्रह्म के आधार से (मातरिश्वा) जीव (अपः) कर्मों को (दधाति) धारण करता है ॥४॥

भिन्न २ सम्प्रदायों द्वारा कुछ पदों की व्याख्या का संक्षिप्तार्थ।

अद्वैत—इस मन्त्र में "अनेजत्" और "जवीयः" इत्यादि आत्मा के

---

१. न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैः। मु. ३।१।८।

२. वाग्देव इति चक्षुर्देव इति मनोदेव इति। गो. पू. २।११।

३. न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति न मनः। के. उ. १।३।

४. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। तै. उ. २।९।१।

निरुपाधिक तथा सोपाधिक वर्णन होने से विरोध नहीं है, अर्थात् पहला वास्तविक और दूसरा माया के कारण है।

विशिष्टाद्वैत—विभु होने से (अनेजत्) वास्तविक है और वेगवान् होना उपचार मात्र है ।

शुद्धाद्वैत—निस्सन्देह ब्रह्म में विरुद्ध गुण युगपत् रहते हैं जैसे अग्रिम मन्त्र में आयेगा भी, परन्तु यहां तो इस श्रुति का अर्थ ही और होने से कोई विरोध है ही नहीं ।

(अनेजत्) अपनी अवस्था से प्रच्युत नहीं होता । (अपनी अवस्था से अवस्थान्तर होना ही प्रच्युति है—ब्रह्म माया से शबल नहीं होता सदा एकरस रहता है। यही इस पद से बतलाया गया है) । (एकं) सभी जगत् उसी का रूप होने से वह एक अकेला अद्वितीय है। (मनसः जवीयः) मन से तेज चाल वाला है। अर्थात् भगवत्प्राप्ति के लिये सच्चा संकल्प मन में हुआ कि उस से पहले ही भगवान् वहां पहुंचे। भाव यह कि अनन्यशरण भक्त के मन को सोचने में देर लगती है, पर भगवान् को उसके पास पहुंच उसे अपने दर्शन से कृतकृत्य करने में देर नहीं लगती। (देवाः) ब्रह्मा इन्द्रादि भी (एनत्) उस भगवान् को (न) नहीं। (प्राप्नुवन्) पूरी तरह जान सकते। क्योंकि श्रुति कहती है (यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः) कठउ. २.२३. जिस पर उस भगवान् की कृपा हो उसे ही वह मिलता है। (पूर्वम्) सब कारणों के कारण (अर्शत्) सर्वज्ञ वा दयालु (तत्) वह परमेश्वर है। (तस्मिन्) उस पुष्टि-मार्ग में (तिष्ठत्) दृढता से स्थिर होने वाला (मातरिश्वा) जीव (अन्यान्) और ब्रह्मा इन्द्रादि देवों की ओर (धावतः) दौड़ने वालों अर्थात् उनकी उपासना करने वालों को (अति-एति) लांघ जाता है,

१. अन्यथा स्थितस्य वस्तुनोऽन्यथा प्रकाशनमुपाधिः ।

क्योंकि और देवों[1] की उपासना करने वाले तो केवल देवलोकों को ही जाते हैं ।परन्तु भगवदुपासना करने वाला जीव (अपः) अमृतत्वं[2] (मुक्ति[3]) अर्थात् सायुज्य को (दधाति) धारण करता है, प्राप्त कर लेता है ।

द्वैत—एज़्=कम्पने धातु से "एजत्" बना है। न एजत्=, अनेजत् अतः इस का अर्थ है, नहीं कांपता । परन्तु ब्रह्म का यह न कांपना निर्भय होने के कारण है । निष्क्रिय होने के कारण नहीं । और यदि (अनेजत्) का निश्चल अर्थ करें तो (जवीयः) से विरोध भी होगा । (तस्मिन्) उस परमेश्वर पर (मातरिश्वा) जीव (अपः) कर्मों को (दधाति) धारण करता है समर्पण करता है ।

(एकं) का अर्थ है तो एक, पर इस पद का आशय एक नहीं सभी सम्प्रदायों में भिन्न २ है ।

अद्वैत--(एकं) का अर्थ अद्वितीय अर्थात् ब्रह्म का न कोई सजाति है, न विजाति और न ही उसके अपने अन्दर (स्वगत) कोई भेद है । भाव यह कि जीव और ब्रह्म एक ही तत्व के दो नाम हैं और जगत् अध्यास होने से मिथ्या है । अतः केवल एकमात्र ब्रह्म अद्वितीय है । अर्थात् ब्रह्म सजाति विजाति स्वगत भेद शून्य है ।

विशिष्टाद्वैत--(एकम्) का अर्थ है ब्रह्म से अधिक वा समान कोई दूसरा नहीं । देह देही में जो स्वगत भेद है वही जीव जगत् और ब्रह्म में है अतः सजाति विजाति भेद न होने पर भी उसमें स्वगत भेद है ।

शुद्धाद्वैत--उसी के सब रूप होने से वह एक अद्वितीय है ।

द्वैत--(एकम्) का अर्थ द्वितीय रहित नहीं किन्तु प्रधान है । यदि एक

---

१. यान्ति देवव्रता देवान् यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् । गी. ९।२५।

२. अमृतत्वं चापः । कौ. १२।१।

३. मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते । गी. ८।१६।

का अर्थ द्वितीय रहित करें तो मन्त्र में आए (अन्यान्) पद से विरोध होगा।

नारायणमुनि-- (देवाः) उस ब्रह्म को ब्रह्मा रुद्र इन्द्रादि देव भी पूरी तरह नहीं प्राप्त कर सके।

अनन्ताचार्य--(पूर्व) सब जगत् का कारण (अर्षत्[1]) ज्ञान स्वरूप ब्रह्म है।

रामचन्द्र--(पूर्व) अनादि जन्म रहित (अर्शत्[2]) अविनाशी ब्रह्म है।

(तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति) के अर्थ—

श्री शंकराचार्य—उस नित्य चैतन्य आत्म तत्त्व के वर्तमान रहते 'मातरिश्वा' समस्त प्राणों का पोषक क्रिया रूप वायु जिसके आश्रय से शरीर और इन्द्रियां हैं और सारा जगत् जिसमें ओत प्रोत है वह सूत्रात्मा (अपः) प्राणियों के चेष्टारूप कर्म तथा अग्नि सूर्य मेघादि के दहन प्रकाश और वर्षादि कर्म (दधाति) विभक्त करता है।

श्री वेंकटनाथ—उसमें ठहरा हुआ वायु वस्तु को रोकने के लिये "जिस काठिन्य की आवश्यकता होती है" उस गुण के बिना भी उस सर्वाधार सर्वेश्वर की शक्ति से (अपः) [यह उपलक्षण मात्र है] मेघ, नक्षत्र ग्रह तारादि को धारण करता है।

श्री मध्व—वायु सब कर्मों को उस परमेश्वर में अर्पण करता है।

श्री उवट--"स्वाहा वाते धाः" यजु ८।२१ के अनुसार यज्ञदान होमादि

---

१. काण्व पाठ (अर्षत्)।

२. माध्यन्दिन पाठ (अर्शत्) महीधरादि भाष्यकारों ने 'अर्शत्' ऋश् गतौ तथा रिश् 'हिंसायां' से बनाया है और जो अर्थ किये हैं। वही काण्व पाठ 'अर्षत्' के भी हैं क्योंकि तुदादिगण की षकारान्त 'ऋष्' गतौ और भ्वादिगण की रिष् हिंसायां से अर्षत् रूप बन जायेगा। यद्यपि गण पाठ में वे षकारान्त ही हैं, परन्तु माध्यन्दिन वैदिक लोग (वेदपाठी) अपनी संहिता का पाठ अर्शत् ही मानते हैं।

कर्म वायु में स्थापित किये जाते हैं। वह समष्टि और व्यष्टि रूप वायु जिस में कर्मों को स्थापित करता है वह यज्ञ होमदानादि का परम निधान परमेश्वर है।

अरविन्द—(क) (मातरिश्वा) जीवन का स्वामी (अपः दधाति) जलों को स्थापित करता है।

(ख) 'अपः' जैसा कि शुक्ल यजुर्वेद के पाठ में स्वर चिह्नित किया है वह केवल जलों के अर्थ में ही आ सकता है।

श्री चतुर्वेदी—भगवान् को छोड (अन्यान्) औरों की ओर (धावतः) दौडने वाला अर्थात् और और की उपासना करने वाला (अपः मातरि) जलों के मापक समुद्र में मानो अपनी रक्षा के लिये (श्वा) कुत्ते को (दधाति) धारण करता है।

यही भाव श्रीमद्भागवत के इस वचन में आया है—

अविस्मितं तं परिपूर्णकामं
स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम्।
विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः
श्वलाङ्गुलेनातितितर्ति सिन्धुम्॥

भागवत ६।९।२२

गीता में इस मन्त्र की छाया—

मत्तः परतरं ७।७। नाहं प्रकाशः ।७।१५। मां तु वेद न ७।२६। न मे विदुः सुरगणाः ।१०।२। न हि ते ।१०।१४। इति ।४।

पांचवां मन्त्र

पृ. १५ तदेजति इति—

प्रसंगसंगति—परम तत्त्व का वर्णन—

पदार्थ—(तत्) वह ब्रह्म (एजति) चलता है। (तत्) वह (न) नहीं (एजति) चलता। (तत्) वह दूर है (तत्) वह (उ)

निश्चय (अन्तिके) समीप (भी) है। (अस्य) इस (सर्वस्य) सब (जगत्) के (तत्) वह (अन्तः) भीतर है (अस्य) इस (सर्वस्य) सब के (बाह्यतः) बाहिर (भी) (तत् उ) वही है ॥५॥

भिन्न-भिन्न भाष्य तथा टीकाकारों के कुछ भिन्न भिन्न पदों का संक्षिप्तार्थ

उवट—(अनेजदेकम्) इस चौथे मन्त्र में कारणरूप ब्रह्म का वर्णन करके अब इस ५वें मन्त्र में कार्यरूप आत्मतत्त्व का श्रुति वर्णन करती है कि (तत्) वह आत्मतत्व सब जीवों के रूप में (एजति) चलता है, क्रिया करता है और स्थावर रूप में (तत्) वह (न) नहीं (एजति) चलता। (तत्) वह ही सूर्य नक्षत्र आदि रूप से (दूरे) दूर (उ) और (तत्) वही पृथ्वी आदि रूप में (अन्तिके) समीप भी है। विज्ञान-घनरूप से (तत्) वह (अस्य) इन (सर्वस्य) सभी प्राणियों के (अन्तः) अन्दर है और जड रूप से (अस्य सर्वस्य) इस सब के (बाह्यतः) बाहिर भी (तत् उ) वही अर्थात् जड चेतन सभी ब्रह्म ही है।

महीधर—आत्मतत्व चलता है, वह नहीं चलता। अर्थात् आत्मतत्व स्वयं न चलता हुआ भी मूढदृष्टि से चलता जान पड़ता है। अज्ञानियों को करोडों वर्षों में भी न प्राप्त हो सकने से वह दूर और ज्ञानियों को अपने अन्दर ही दिख जाने (आत्मा के रूप में भासमान होने) से समीप है। वह इस समस्त जगत् के भीतर भी है और वही आकाश की भान्ति व्यापक होने से बाहिर भी है।

अद्वैत—वह आत्मतत्व चलता और स्वयं नहीं भी चलता। अर्थात् अचल होकर ही चलता हुआ-सा जान पडता है।

(क) वह कूटस्थ ब्रह्म न चलता हुआ भी अज्ञानियों को चलता सा प्रतीत होता है।

(ख) कारणरूप में न चलने वाला ब्रह्म कार्य (जीव) रूप में क्रियावान् हो जाता है।

(ग) यहां "एजति" का अर्थ चलना नहीं, किन्तु चलाना है। इस प्रकार यह अर्थ होगा, कि वह ब्रह्म स्वयं नहीं चलता, पर सभी को चलाता है।

विशिष्टाद्वैत—वह सर्वव्यापक ब्रह्म कांपता सा प्रतीत होता है, पर वस्तुतः नहीं कांपता।

शुद्धाद्वैत—परमेश्वर में परस्पर विरोधी-गुण इकट्ठे रहते हैं, क्योंकि वह अचिन्त्य-शक्ति है। यही इस श्रुति में कहा है।

द्वैत—एज्=धातु का अर्थ है, कांपना (डरना) और (तत्) का अर्थ है, वह ब्रह्म। इस प्रकार (तदेजति) का अर्थ होगा "वह ब्रह्म डरता है, परन्तु यह अर्थ तो ठीक नहीं, अतः 'तत्'[1] यह पंचमी के अर्थ में अव्यय है। इस लिये इस का अर्थ है (तत्) उस से अर्थात् उस ब्रह्म से जगत् (एजति[2]) डरता है। परन्तु (तत्) वह ब्रह्म किसी से भी (न एजति[3]) नहीं डरता। यह बात दूसरी जगह[2] भी श्रुति में कही है।

श्रीनारायणमुनि—(तद् दूरे तद्वन्तिके) वह प्रभु दूर भी है और समीप भी। जो परमेश्वर[4] से विमुख हैं, उनसे वह प्रभु दूर से भी दूर है और जो भगवान्[5] के भक्त हैं, उनके तो वह समीप ही है।

---

१. तदित्यव्ययं पंचम्यर्थे। मा.।

२. भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। तै. उ. २।८।१

३. अभयं वै ब्रह्म। श. ब्रा. १४।७।३१।

४. पराङ्मुखा ये गोविन्दे विषयासक्तचेतसः।
तेषां तत्परमं ब्रह्म दूराद् दूरतरं स्थितम्॥

५. तन्मयत्वेन गोविन्दे ये नरा न्यस्तचेतसः।
विषय-त्यागिनस्तेषां विज्ञेयं च तदन्तिके॥ श्री शौनकः

शुद्धाद्वैत—वह जगत् के भीतर और बाहिर भी है। अर्थात् यह जगत् ब्रह्म में सर्वथा ओतप्रोत होने से मायिक नहीं, सत्य है।

श्रीअरविन्द—(क) एकमेव स्थिर ईश तथा बहुविध गति ये दोनों एक—ब्रह्म के रूप में एकीभूत हैं, तथापि उस ब्रह्म की एकता, और स्थिरता उसके उच्चतर सत्य हैं।

(ख) वह ब्रह्म सबको अपने में समाये हुए हैं तथा सब में बसा हुआ है।

प्रो. राजाराम—जीवात्मा से परमात्मा में यही विलक्षणता है, कि जीवात्मा तो शरीर के अन्दर ही होता है परन्तु परमात्मा शरीर के अन्दर भी है और बाहिर भी!

गीता में इस मन्त्र की व्याख्या—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्ममत्वात् तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥१३-१५॥

इति।५।

छठा मन्त्र

पृष्ठ १६ यस्तु सर्वाणीति—

पदार्थ—(यः) जो (तु) निश्चय से (सर्वाणि) सब (भूतानि) चेतनाचेतन भूतों को (आत्मन्[1]) परमात्मा के आधार पर (एव) ही (अनु-पश्यति) निरन्तर देखता है = अनुभव करता है। (च) और (सर्व) सब (भूतेषु) चराचर में (आत्मानम्) परमात्मा को व्यापक [देखता है = अनुभव करता है] (ततः) फिर इस अवस्था के पीछे [वह] (न विचिकित्सति) संशय नहीं करता। काण्व पाठ = (न विचिकित्सति) के स्थान पर (न विजुगुप्सते) है—जिसका अर्थ है—[वह] घृणा नहीं करता।

१. (आत्मन्) सप्तम्या लुक्-आत्मनि। इति महीधरः।

अद्वैत—(क) अव्यक्त से स्थावर पर्यन्त सब भूतों को आत्मा में देखता

ों में आत्मा

है। भाव यह

हूँ। वैसे ही

ही हूँ। इस

ो देखता है।

भिन्न पर ही

भूत मुझ में

कि वस्तुतः मैं

ा जानने पर

रमात्मा है।

र परमेश्वर है

है, कि वह

नहीं कि भूत

नहीं। वही

ह्मा से स्तम्ब

सब में जो

ा ठीक नहीं,

—आत्मनि"

त्मा में स्वयं

शुद्धाद्वैत—वह जगत् के भीतर और बाहिर भी है। अर्थात् यह जगत्

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

।

ये दोनों एक—
ो एकता, और

सब में बसा

क्षणता है, कि
मात्मा शरीर के

् ।१३–१५।
इति ।५।

सब (भूतानि)
ार पर (एव)
रता है। (च)
म्) परमात्मा
ः) फिर इस
नहीं करता।
विजुगुप्सते)
ा।

अद्वैत—(क) अव्यक्त से स्थावर पर्यन्त सब भूतों को आत्मा में देखता है, आत्मा से पृथक् नहीं देखता और उन सम्पूर्ण भूतों में आत्मा को अर्थात् उन भूतों को भी अपना आत्मा ही जानता है। भाव यह कि, जैसे मैं इस देह और इन्द्रिय समूह का आत्मा हूँ। वैसे ही अव्यक्त से स्थावर पर्यन्त भूतों का आत्मा भी मैं ही हूँ। इस प्रकार जो सब भूतों में अपने निर्विशेष आत्मरूप को देखता है। वह किसी से घृणा नहीं करता, क्योंकि घृणा अपने से भिन्न पर ही होती है अपने आप पर कोई घृणा नहीं करता।

(ख) जो विरक्त यह देखता है, कि यह सब भूत मुझ में अध्यस्त[1] हैं तथा आत्मा को सब भूतों में देखता है कि वस्तुतः मैं ही यह सब कुछ हूँ, मुझ से भिन्न ये भूत नहीं, ऐसा जानने पर फिर वह किसी की निन्दा नहीं करता।

विशिष्टाद्वैत—इस मन्त्र में प्रकरण से आत्मा का अर्थ परमात्मा है। अतः यहां यह अर्थ हुआ कि—समस्त भूतों का आधार परमेश्वर है "सर्वभूतेषु आत्मानं" का केवल इतनामात्र ही आशय है, कि वह प्रभु सभी भूतों में व्यापक है। "भूतेषु" का यह अर्थ नहीं कि भूत उसका आधार हैं, क्योंकि परमेश्वर का कोई आधार नहीं। वही सबका आधार है।

शुद्धाद्वैत—स्वर्ण में कङ्कण कुण्डल आदि की भान्ति, ब्रह्मा से स्तम्ब पर्यन्त सब भूतों को भगवान् में और स्थावर-जंगमादि सब में जो भक्त भगवान् को देखता है।

द्वैत—(क) भूतों का आत्मा से अभेद मान कर अर्थ करना ठीक नहीं, क्योंकि इस मन्त्र में "भूतेषु,—आत्मानं और भूतानि—आत्मनि" की सप्तमी विभक्ति आधाराधेय भाव द्वारा भूतों और आत्मा में स्वयं स्पष्ट भेद बतला रही है।

---

१. कृताध्यासे मिथ्याभूते आरोपिते।

(ख) अतः यह अर्थ ही ठीक है, कि जो चेतन अचेतन सबका आधार परमेश्वर को समझता है और प्रभु को उन सबका नियामक जानता है। वह निर्भय हो जाने से (न विजुगुप्सते) अपनी रक्षा नहीं चाहता।

रघुनाथांगिरस--(न विजुगुप्सते) अपनी रक्षा नहीं चाहता, अर्थात् अपनी रक्षा के लिये दूसरों को हानि नहीं पहुँचाता और न ही अपने बर्ताव के लिये दीनता दिखाता है, अथवा वह इतना महान् हो जाता है, कि मनु ने जो अल्पद्रोह[1] से आजीविका उपार्जन की अनुमति दे रखी है। उसका अनुसरण न कर 'अद्रोहेण' इस पहले पक्ष का ही अनुसरण करता है।

महीधर—(**न विचिकित्सति**) आत्मज्ञ के संशय दूर हो जाते हैं।

अनन्ताचार्य—(न विजुगुप्सते) जुगुप्सा (निन्दा) को प्राप्त नहीं होता, मुक्त हो जाता है।

ब्रह्मानन्द—माध्यन्दिन पाठ—(न विचिकित्सति) अपने स्वरूप को जान लेने पर फिर वह सन्देह नहीं करता और **काण्व पाठ में (न विजुगुप्सते)**

"घृणा दया जुगुप्सा वा जायते भेददर्शिनः।६।"

जिन में भेद की भावना बनी रहती है, वही प्राणियों को परांया[2] समझ कर, उन पर दया, घृणा वा उन की निन्दा करते हैं।

प्रो. राजाराम—(न विजुगुप्सते) परमात्मा उस से कभी नहीं छिपते जैसे दूसरों से छिपे हुए हैं।

श्रीपाद—सब भूतों के विषय में वह समान आत्मभाव मन में रखता है। उसकी सर्वत्र समदृष्टि हो जाती है।

कई विद्वानों का कहना है कि—इस मन्त्र में आये (आत्मन्) पद

---

१. अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः। मनुः ४।२।

२. परदुःखापहरणेच्छादया इति वाच।

के परमात्मा और आत्मा दोनों अर्थ हो सकते हैं। **पहले पक्ष में—** अर्थ होगा, कि जो समस्त चराचर जगत् को परमात्मा में और परमात्मा को चराचर जगत् में देखता है (न विजुगुप्सते) उस से कोई ऐसा कार्य नहीं हो सकता जो निन्दनीय हो। और दूसरे **पक्ष में अर्थ होगा** जो सब प्राणियों को अपने आत्मा में और अपने आत्मा को सब प्राणियों में देखता है अर्थात् सब के सुख-दुःख को अपने सुख-दुःख के समान अनुभव करता है। वह किसी का अनिष्ट साधन रूप घृणित कार्य नहीं करता।

गीता में इस मन्त्र की व्याख्या—

१. सर्व-भूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।६।२९।

२. यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।६।३०।

भागवत में इस मन्त्र की व्याख्या—

आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम् ।
अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि ॥

भागवत ३।२४।४६। इति ।६।

सातवां मन्त्र

पृष्ठ १७—यस्मिन्—इति—

पदार्थ—**(यस्मिन्) जिस अवस्था में (विजानतः) विशेषज्ञानी के (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (आत्मा एव) आत्मरूप ही (अभूत्) होगये। (तत्र) वहां=उस समय उस (एकत्वम्) एकता=समानता को (अनु-पश्यतः) देखने वाले के लिये (कः) कौन सा (मोहः) भ्रम ? और (कः) कौन सा (शोकः) शोक हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ।७।**

अद्वैत—(यस्मिन्) जिस समय परमार्थ तत्व को जानने वाले के लिये (सर्वाणि भूतानि) ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्य्यन्त सब भूत (आत्मा

एव अभूत्) आत्मा (ब्रह्म) ही होगये। अर्थात्—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि वाक्यों द्वारा यह सब ब्रह्म ही है और मैं भी ब्रह्म ही हूं, ऐसा अनुभव होने लगा (तत्र) उस समय (एकत्वमनुपश्यतः) एकमात्र सच्चिदानन्द ब्रह्म की ही परमार्थ सत्ता को सर्वत्र देखने वाले के लिये (को मोहः कः शोकः) कौन मोह और कौन सा शोक हो सकता है, क्योंकि जब एक ब्रह्म के सिवाय कोई वस्तु है ही नहीं तब मोह शोक कैसे ? यह तो अविद्या की अवस्था में होते हैं। ज्ञानी को नहीं होते।

विशिष्टाद्वैत—(विजानतः) प्रथम मन्त्र "ईशावास्यं"···से न "विजुगुप्सते" इस छठे मन्त्र तक के उपदेश द्वारा स्वतन्त्र (परमेश्वर) और परतन्त्र (जीव तथा जड़) के भेद को भली प्रकार जानने वाले को ("यस्यात्मा शरीरम्") बृ. उ. ५।७।२२। जिस का जीव शरीर है ("यस्य "सर्वाणि भूतानि शरीरम्" बृ. उ. ३।७।१५) जिस का सब भूत शरीर है" इत्यादि श्रुति वाक्यों से जीव, जड़ और जगदीश्वर का शरीर-शरीरी सम्बन्ध ज्ञान होने से (सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत्) सब जीव और जड़ जिस के शरीर हैं। ऐसा परमात्मा है" इस प्रकार का जब बोध होगया तब (उस) (एकत्वमनुपश्यतः) जीव जड़ विशिष्ट ब्रह्म एक है। ऐसा देखने वाले को (तत्र) वहां (को मोहः) जीवात्मा स्वतन्त्र है, यह भ्रम कहां रहता है और यह जो सब कुछ दीख रहा है वह मेरा नहीं, ईश्वर का है। इस प्रकार सांसारिक विषयों पर से ममत्व हट जाने पर उनके ह्रास या नाश का (कः शोकः) शोक कैसे हो सकता है ?

शुद्धाद्वैत—(विजानतः) भगवान् के गुणों को भली प्रकार जानने वाले भक्त को भगवद्दर्शन की बलवती इच्छा उत्पन्न होने से (यस्मिन्) जिस विरह अवस्था में "सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत्" सभी चराचर परमात्मा रूप ही दिखाई देते हैं। (तत्र) उस अवस्था में (एकत्व-

मनुपश्यतः) एक मायारहित शुद्ध अद्वैत का अनुभव करने वाले के लिये मोह और शोक कुछ नहीं रहते।

द्वैत—मन्त्र के (भूतानि) बहुवचन का (अभूत्) इस एकवचन से अन्वय ही नहीं हो सकता। दूसरे इस समय भी परमात्मा के सब में विद्यमान होने से "आत्मा अभूत्" अर्थात् आत्मा था यह अर्थ भी युक्तिसंगत नहीं है। अतः इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है (यस्मिन् = आत्मनि) जिस परमात्मा में (सर्वाणि-भूतानि) समस्त चराचर (तिष्ठन्ति) स्थित हैं। (स) वह (आत्मा एव) परमात्मा ही समस्त भूतों में आधार रूप से (अभूत्) अनादि काल से विद्यमान है। इस प्रकार (विजानतः) साक्षात् अनुभव करने वाला जो व्यक्ति, समस्त भिन्न-भिन्न जड़चेतन में (एकत्वमनुपश्यतः) (आधार रूप से व्यापक) एक ही परमात्मा को जानता है। उसे भगवत् प्राप्ति हो जाने से मोह अज्ञान नहीं रहता और अज्ञान मिट जाने से शोक होता ही नहीं ॥७॥

वैङ्कटनाथ—(एकत्वम्) के एक का अर्थ यह नहीं, कि ब्रह्म के सिवाय जीव और जगत् है ही नहीं। ऐसा अर्थ करने से "ईशावास्यं" के "इदं सर्वं" से विरोध हो जायेगा।

कई कहते हैं कि—"आत्मा अभूत्" में लुङ् लकार "छन्दसि लुङ् लङ् लिटः" से सामान्य काल के "लिये" आया है, भूतकाल के लिये नहीं।

गीता में इस मन्त्र की व्याख्या—

सर्वभूतस्थितं यो मां ॥६।३१॥ इति ।७।

आठवां मन्त्र

पृष्ठ १८ सपर्यगात् इति—

इस मन्त्र में "स, कविः मनीषी, परिभूः स्वयंभूः" इन पदों का, कई ब्रह्म और कोई उपासक ज्ञानी अर्थ करते हैं और कुछ ऐसे भी हैं,

जो 'स' का उपासक और कवि आदि चारों को परमेश्वर का विशेषण मानते हैं।

(१) परमात्मा पक्ष का अर्थ

(शुक्रम्) ज्योतिर्मय वा अचिंत्यशक्ति (अकायम्) लिङ्ग शरीर-रहित (अव्रणम्) व्रण-रहित, अक्षर वा अखण्ड, (अस्नाविरम्) नस-नाड़ी-रहित, अर्थात् स्थूल शरीर-रहित। (शुद्धम्) निर्मल वा सत्व, रज, तम गुणों के संपर्क से रहित। (अपापविद्धम्) पाप-रहित, निष्पाप (स) वह परमात्मा (परि-अगात्) सर्वव्यायपक है। उस (कविः) त्रिकालज्ञ (मनीषी) सब मनों को प्रेरणा देने वाले (परिभूः) सर्वश्रेष्ठ वा सब को वश में रखने वाले (स्वयंभूः) अपनी सत्ता से स्थिर (परमेश्वर ने) (शाश्वतीभ्यः) अनादि (समाभ्यः) काल से (याथातथ्यतः) यथार्थ रूप से (अर्थात् उन के) कर्म फल साधनों द्वारा (अर्थान्) पदार्थों को (व्यदधात्) बनाया ॥८॥

(२) उपासक पक्ष का अर्थ

(स) वह (कविः) ज्ञानी वा भगवान् के गुण-गाने वाला भक्त, (मनीषी) मन को वश में रखने वाला (परिभूः) काम, क्रोध, मद, मोहादि शत्रुओं का जिसने तिरस्कार कर दिया है वा परमेश्वर प्राप्ति के लिये सांसारिक झंझटों का परित्याग कर दिया है। (स्वयंभूः) ब्रह्म का दर्शन हो जाने से जिसे दूसरों के सहारे की अपेक्षा नहीं रही अथवा स्वयं अपने आप मुक्त होने वाला (शाश्वतीभ्यः) अनन्त (समाभ्यः) वर्षों तक (याथातथ्यतः) यथार्थ रूप से अर्थात् "तेन-त्यक्तेन" इस पहले मन्त्र के अनुसार अपना स्व-स्वामी-सम्बन्ध छोड़ कर त्याग-पूर्वक (अर्थान्) पदार्थों का (व्यदधात्) उपभोग करता हुआ (शुक्रम्) विज्ञानानन्द (अव्रणम्, अस्नाविरम्) नाड़ी और व्रण-रहित अर्थात् स्थूल-शरीर-रहित। (शुद्धं) शुद्ध-माया-रहित (अपापविद्धम्) पाप-ताप-रहित ब्रह्म को (पर्यगात्) प्राप्त होता है ॥८॥

(३) उभय पक्ष का अर्थ

(स) वह उपासक, ज्योतिर्मय, शरीर और नस-नाड़ी व्रण-रहित, निर्मल, निष्पाप, ब्रह्म को प्राप्त करता है। और वह सर्वद्रष्टा, अन्तर्यामी, सर्वश्रेष्ठ, स्वतन्त्र, परमात्मा अनादि काल से यथार्थ रूप में पदार्थों को सदा बनाता है ॥८॥

टीकाकारों के किये कुछ पदों के भिन्न-भिन्न अर्थ

शुक्रम्--१. ज्योतिष्मान् (शंकर) २. विज्ञानस्वभाव (अनन्त) ३. अचिन्त्य शक्ति (उवट) शोकरहित (मध्व)।

श्रीशंकर--(अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्) १. अकायं से लिङ्ग शरीर वर्जित और अव्रणम् तथा अस्नाविरं से स्थूल शरीर का प्रतिषेध किया है।

वैङ्कटनाथ--(अकायम्) से हेय शरीर का ही निषेध है। मंगल विग्रह का नहीं, अन्यथा आगे (काण्वपाठ के) १६वें मन्त्र "यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि" से विरोध होगा।

म. म. आर्यमुनि--शरीर न होने से परमेश्वर का अवतार और उसकी मूर्तिपूजा दोनों का निषेध है।

ब्रह्ममुनि--(अकायम्) से नेत्रादियुक्त-शरीर-रहित (अव्रणम्) से अवकाश रहित अर्थात् काष्ठ, पत्थर, पृथ्वी आदि पिण्ड जैसी आकृति-रहित (अस्नाविरम्) से धारामय-विद्युत्, किरण, वायु जैसी जड़ सत्ता से रहित परमात्मा है।

महीधर--(अव्रणम्) नित्यपूर्ण।

उवट--(अपापविद्धम्) क्लेश[1]-कर्म उनका फल और वासनारूप पापों से रहित।

नारायण (कविः)--सर्वदर्शी वा पञ्चरात्रादि शास्त्र-प्रणेता।

---

१. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः। योग। १।१४

श्री शंकर—(परिभूः) सबके ऊपर होने वाला अर्थात् जिसके ऊपर होता है और जो ऊपर होता है। वह सब आप ही है।

श्री वेङ्कटनाथ--(शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) निरन्तर ब्रह्मप्राप्ति तक सब विघ्नों की शान्ति के लिये (याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात्) मोक्ष प्राप्ति के उपाय और उनके विरोधी सब भावों को ठीक-ठीक विचार कर धारण करता है।

नारायण—(याथातथ्यतः) ठीक-ठीक विचार कर (अर्थान्) प्रणव के अर्थों को (तस्य वाचकः प्रणवः। योग १।२७) उस परमेश्वर का वाचक प्रणव (ओं) है (तज्जपस्तदर्थभावनम्। योग १।२८) उसका जप तथा अर्थ की भावना को (व्यदधात्) हृदय में धारण करता है।

विशिष्टाद्वैत—परमेश्वर (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) निरन्तर प्रलय काल तक के लिये (याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात्) सचमुच पदार्थों को बनाता है। मदारी की तरह झूठे पदार्थों को प्रकट नहीं करता। अर्थात् ईश्वर का बनाया संसार मिथ्या नहीं, सत्य है।

श्रीमध्व (याथातथ्यतः)--वस्तुतः (अर्थान्) संसार के पदार्थों को (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) अनादि अनन्त (व्यदधात्) बनाया। अर्थात् परमेश्वर का बनाया यह जगत् सत्य और धारा-प्रवाह से अनादि तथा अनन्त है। मिथ्या नहीं।

शुद्धाद्वैत—(उस भक्त ने) (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) निरन्तर बहुत वर्षों तक अपने (अर्थान्) धर्मार्थकाममोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय को (याथा-तथ्यतः) भगवद्विषयक कर देने से यथार्थ रूप में (व्यदधात्) बना लिया।

गीता में इस मन्त्र की व्याख्या--(शुक्रं शुद्धं) "ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते। गी० १३।१७।"

(अपापविद्धं) नादत्ते कस्यचित्पापं।५।१५।

(कविः) वेदाहं समतीतानि। ७।२६। कविं पुराणं। ८।९। इति।८।

नावां मन्त्र

पृ. १९ अन्धतम इति—(काण्व में यह बारहवां है)

पदार्थ—(ये) जो लोग (असम्भूतिम्) असम्भूति की (उपासते) उपासना करते हैं, वे (अन्धम्) अज्ञानरूप व गहरे (तमः) अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते [फंसते] हैं॥ और जो (सम्भूतिम्) सम्भूति में (रताः) आसक्त हैं (ते) वे (ततः) उससे (उ) भी (भूय-इव) मानो और अधिक (तमः) अन्धकार में फंसते हैं ॥९॥

भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने असम्भूति तथा सम्भूति के अर्थ भिन्न-भिन्न किये हैं।

१ असम्भूतिमुपासते, २ सम्भूत्यां रताः।

(१) वेदभाष्यकार—उवट, तथा काण्वभाष्यकार अनन्ताचार्य लिखते हैं (असम्भूतिम्) 'जल बुद् बुद् वा मदशक्ति की तरह आत्मा है, उसकी वास्तविक सत्ता नहीं, मृत्यु के पश्चात् कभी जन्म नहीं होता ऐसा मानने वाले।

(सम्भूति) आत्मा ही सब कुछ है। इस धुन में पड़ कर कर्तव्य-कर्म छोड़ देने वाले।

(२) वेद भाष्यकार—महीधर, काण्वभाष्यकार आनन्दभट्ट, अनन्ताचार्य तथा अद्वैताचार्य श्री शंकराचार्यादि अर्थ करते हैं (असम्भूतिम्) प्रकृति-अज्ञानात्मिका अविद्या जो काम कर्म की बीज है, उसकी उपासना करने वाले हैं (सम्भूति) जो कार्य ब्रह्म हिरण्यगर्भ के उपासक हैं।

(३) विशिष्टाद्वैत के भाष्य तथा टीकाकार—

(असम्भूति) समाधि के प्रतिबन्धक—मान, दम्भ, हिंसा के उपासक।
(सम्भूति) मान, दम्भ, हिंसा आदि की निवृत्ति किये बिना समाधि अनुभव में मग्न।

(४) **शुद्धाद्वैत** के टीकाकार—

(असम्भूति) व्यापक ईश्वर का एक देशी होना असम्भव है। निराकार साकार नहीं हो सकता। इस प्रकार अनन्तशक्ति भगवान् की शक्ति की सीमा बान्धने वाले।

(सम्भूति) शरीरधारी में जो-जो दोष होते हैं, वे अवतार में होने भी सम्भव हैं। ऐसा मन से मानने वाले।

(५) **काण्वभाष्यकार**—आनन्दभट्ट तथा द्वैताचार्य श्री मध्वाचार्य अर्थ करते हैं (असम्भूतिम्) परमेश्वर को जगत् का कर्ता न मानने वाले। श्री मध्वाचार्य (संभूति) का अर्थ करते हैं। जो विष्णु को केवल सृष्टि कर्ता ही मानते हैं। उसे संहारकर्ता नहीं मानते।

(६) **दिगम्बरानुचर**—(असम्भूति) अनित्य स्वर्गप्राप्ति के लिये नाना देवों की उपासना करने वाले (सम्भूति) कर्तव्य कर्म छोड कर केवल ईश्वराराधन में रत।

(७) **वेद भाष्यकार जयदेव तथा ब्रह्ममुनि**—(असम्भूति) जो सत्व रज तमोगुण वाली अव्यक्त प्रकृति की उपासना करते हैं (सम्भूति) जो मरुत् आदि विकारमय सृष्टि में मग्न हो जाते हैं।

(८) **म. म. आर्यमुनि**—(असम्भूतिम्) प्रकृति को ईश्वर मान कर उपासना करते हैं (सम्भूतिं) प्रकृति के कार्यों की ईश्वरभाव से उपासना करते हैं।

(९) **श्रीपाद**—(असम्भूति) के उपासक असंघभाव-व्यक्तिभाव के उपासक अर्थात् वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का ही केवल आदर करने वाले। (सम्भूति) में रमण करने वाले केवल संघ-शक्ति के पूजक या केवल संघ-शक्ति बढाने के लिये व्यक्ति का स्वातन्त्र्य नष्ट करने वाले।

ऊपर लिखे अर्थों वाली असम्भूति के उपासक अन्धकार में पड़ते हैं और उनसे भी गहरे अन्धकार में वे गिरते हैं, जो उक्त अर्थों वाली सम्भूति में मग्न हैं ॥९॥

गीता में इस का आशय—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।१६।८।

इति (का. ।१२।)९।

दसवां मन्त्र

पृष्ठ २०—अन्यदेवाहुरिति—(काण्व में यह १३वां है)

पदार्थ--(संभवात्) सम्भव से (अन्यत्) और (एव) ही (आहुः) कहते हैं और (असम्भवात्) असम्भव से (अन्यत् आहुः) दूसरा बतलाते हैं। (इति) इस प्रकार (धीराणाम्) धीर विद्वानों के वचन हमने (शुश्रुमः) सुने (ये) जो (नः) हमें इस विषय में (विचचक्षिरे) विशेषरूप से उपदेश करते हैं।१०।

भिन्न-भिन्न भाष्यकारों के भाव

श्री शंकराचार्य—महीधर, अनन्ताचार्य तथा आनन्दभट्ट कहते हैं—(सम्भवात्) कार्य ब्रह्म की उपासना से और (अणिमादि ऐश्वर्य प्राप्तिरूप) फल और (असम्भवात्) अव्याकृत उपासना से और (प्रकृति-लयरूप) फल होता है।

विशिष्टाद्वैत--केवल संभव से या केवल असम्भव से मोक्ष का साधन दूसरा ही है।

शुद्धाद्वैत—(क) जिन आचार्यों ने हमें उस ब्रह्म का स्वरूप बतलाया है उन्होंने (सम्भवात्) तर्कित विचार से (अन्यत्) भिन्न और (असम्भवात्) अतर्कित् से भी भिन्न ही कहा है। क्योंकि भगवान् में सब कुछ हो सकने की सामर्थ्य होने से परस्पर विरुद्ध गुण भी उन में एक ही समय में इकट्ठे रहते हैं।

(ख) परमेश्वर के विषय में जो बातें होना हम सम्भव समझते हैं। उस हमारे समझे हुए संभव से तथा उसके विषय में जो हम असम्भव समझे हुए हैं, उस असंभव से भी परमेश्वर भिन्न ही है।

द्वैत—(संभवात्) प्रभु सृष्टि कर्ता हैं, इस ज्ञान का और, तथा वह संहार कर्ता हैं इस ज्ञान का और फल है, तो भी मोक्ष के लिये ये दोनों किसी अंश में साधन अवश्य हैं।

श्रीपाद—(सम्भवात्) संघभाव-एक होकर रहने का फल भिन्न है। संघ शक्ति से जो समाज सु-संघठित होता है। वह जगत् पर विजयी हो सकता है और (असम्भवात्) असंघभाव=व्यक्ति सत्तावाद का और, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को यथासम्भव अपनी उन्नति करनी चाहिये। (उसे समाज के नियमों से बन्ध कर संघ बनाने की जरूरत नहीं।) एवं पूर्ण स्वतन्त्रता मिल जाने से कईयों के वैयक्तिक गुण खूब उन्नत हो जाते हैं।

आर्य विद्वान्—प्रकृति के कार्य (जगत्) से और फल तथा प्रकृति के ज्ञान से और फल होता है।

गीता में इस मन्त्र की व्याख्या—

(क) क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् १२।५ (अनन्त)

(ख) परस्तस्मात् तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः।८।२०।

इति (का. १३) १०।

ग्यारहवां मन्त्र

पृष्ठ २० सम्भूतिमिति—(काण्व में यह १४ वां है)

---

१. १ इस मन्त्र में एक "संभूति" के स्थान पर "अ-संभूति" और दूसरे "विनाश" के स्थान पर "अ-विनाश" ऐसा पाठ बदल कर अर्थ करते हैं। तीसरे "संभूति का अर्थ ही अपनी व्युत्पत्ति के बल से "असंभूति" सा कर लेते हैं। और चौथे--विनाश का व्युत्पत्ति से वही अर्थ कर लेते हैं जो दूसरे अविनाश पाठ बना कर उसका करते हैं। तथा पांचवें मन्त्र में आये "विनाशेन मृत्युं और सम्भूत्यामृतम्" इस क्रम को बदल कर सम्भूति से मृत्यु और विनाश से अमृत ऐसा अर्थ करते हैं। इस के सिवाय संभूति, विनाश, मृत्यु और अमृत इन पदों के भी भिन्न-भिन्न भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं।

पदार्थ—(यः) जो (संभूतिं) संभूति (च) और (विनाशं) विनाश (तत्) उन (उभयम्) दोनों को (च) भी (सह) साथ २ (वेद) जान लेता है। (वह) (विनाशेन) विनाश से (मृत्युं) मृत्यु को (तीर्त्वा) तर कर (संभूत्या) संभूति से (अमृतं) अमरता को (अश्नुते) प्राप्त कर लेता है ।११।

(१) **श्रीशंकराचार्य तथा आनन्दभट्ट**—यहां "संभूति" के अकार का लोप हुआ समझना चाहिये। अतः यह "संभूति" नहीं "असंभूति" पद है। जिसका अर्थ है, कारण प्रकृति = माया और "विनाश" का अर्थ है, कार्य ब्रह्म = हिरण्यगर्भ।

(२) **महीधर तथा अनन्ताचार्य**—यहां "विनाश" के अकार का लोप हुआ जानना चाहिये अतः यह "विनाश" नहीं, "अविनाश" पद है। जिस का अर्थ है; कारण प्रकृति = माया और "संभूति" का अर्थ है कार्य ब्रह्म = हिरण्यगर्भ। जो कार्य कारण दोनों को साथ-साथ जान जाता है। वह कार्य रूप हिरण्यगर्भ की उपासना से अणिमादि ऐश्वर्य प्राप्ति द्वारा। अनैश्वर्य (अधर्म-काम) रूप मृत्यु को दूर कर अन्धतम प्रवेश-रूप अमरता (जिसे पौराणिक प्रकृतिलय कहते हैं) को प्राप्त करता है।

(३) **उवट तथा अनन्ताचार्य**—अपने व्युत्पत्ति-बल से "संभूति" (सकल-जगत् संभवैक हेतुं परब्रह्म) संभूति का अर्थ ही कारण ब्रह्म और "विनाश" का विनाश धर्म-वाला शरीर-संसार आदि कर लेते हैं। और यह अर्थ करते हैं, कि शरीरी और शरीर-रूप नित्यानित्य वस्तु के साथ जान लेने पर "मैं शरीर नहीं शरीरी हूँ" इस प्रकार जानने वाला योगी "विनाश" शरीर से निष्काम = ईश्वरार्पण-सात्त्विक कर्म करने के द्वारा मृत्यु को पार कर अर्थात् अन्तः करण की शुद्धि कर के "संभूति" आत्म-ज्ञान से अमृतत्व-मोक्ष को प्राप्त करता है।

(४) **श्रीभास्कर**—ने "विनाश" का अर्थ ही व्युपत्ति के बल से कारण कर दिया है "विनाशं = सर्वकार्य-विनाशाश्रयम् = कारणम्" जो सभी कार्यों के अदृश्य होने का आश्रय है अर्थात् कारण है।

(५) **अनन्ताचार्य एक यह भी अर्थ करते हैं कि**—"विनाश" शब्द उत्पत्ति-विनाश दोषरहित परमात्मा का उपलक्षण (बोधक) है। इस लिये यहां "विनाशेन मृत्युं" तथा "सम्भूत्या अमृतम्" इस पाठ का "संभूत्या मृत्युं" और "विनाशेन अमृतं" ऐसा अन्वय करके यह अर्थ करना चाहिये, कि संभूति हिरण्य गर्भादि देवता की उपासना द्वारा अन्तःकरण की मल रूप मृत्यु को दूर करके "विनाश" परमात्मा के ज्ञान से मोक्ष प्राप्त करे।

(६) **श्री वेङ्कटनाथ तथा नारायण**—'संभूति' समाधिरूप ब्रह्मानुभूति और "विनाश" का अर्थ है, योग विरोधी, (अभिमान, दम्भ, हिंसादि) दोष त्याग, इन दोनों को अंगांगीभाव से इकट्ठा जान कर समाधिविरोधी भावनाओं को मिटा कर समाधिविरोधी पापरूप मृत्यु को दूर करके समाधि की सिद्धि द्वारा ब्रह्म प्राप्तिरूप अमरता=मुक्ति प्राप्त करता है।

(७) **शुद्धाद्वैत**—पहले मन्त्रों में आये असम्भूति, सम्भूति, असम्भव, सम्भव इस क्रम को बदल कर इस मन्त्र में पहले सम्भव और फिर विनाश (असम्भव) इस क्रम-परिवर्तन से श्रुति का अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति भगवत् (पुष्टि) कृपा के प्राप्त होने पर ईश्वर की सर्व-शक्तिमत्ता पर विश्वास हो जाने के कारण अपने पहले (कुतार्किक की अवस्था में) माने असम्भव को सम्भव और सम्भव को असम्भव समझ जाता है। इस प्रकार दोनों बातें जान लेने से कि भगवान् में दोषों का होना असम्भव है इस ज्ञान से (मृत्युं) मृत्युलोक को जीत कर भगवान् के लिये सभी कुछ सम्भव है इस निश्चय से (अमृतं) रस-मय अर्थात् आनन्दस्वरूप भगवान् को अनुभव करता है।

(८) द्वैत—(संभूति) सुख ज्ञानादि सर्व के कर्ता और (विनाश) विनाश-कर्ता। जो अधिकारी भगवान् को सुख-ज्ञानादि सब कुछ का उत्पादक और सब का संहार कर्ता जाना जाता है। वह (विनाश) परमेश्वर संहार कर्ता है, इस भाव की उपासना से देह-बन्धन से छूट कर (संभूत्या) परमेश्वर सुख-ज्ञान के उत्पादक हैं, इस भाव की उपासना करने से सुख ज्ञानादि प्राप्त करता है।

(९) श्री जयदेव—(सम्भूति) जिसमें नाना पदार्थ उत्पन्न होते हैं इस कार्यसृष्टि और (विनाशं) जिसमें विनाश अर्थात् कारण में लीन होते हैं, दोनों को जो एक साथ जान लेता है वह (विनाशेन) सब के अदृश्य होने के परम कारण को जान कर (मृत्युं) देह छोड़ने के धर्म-भय को पार करके उसको सर्वथा त्याग कर (सम्भूत्या) कारण से कार्यों के उत्पन्न होने के तत्त्व को जान कर (अमृतम्) उस अमर अविनाशी मोक्ष को प्राप्त करता है।

(१०) श्री ब्रह्ममुनि—"सम्भूति-असम्भूति" अर्थात् सृष्टि-प्रकृति को साथ-साथ जानने वाले मन्त्र में मृत्यु को तैरना और अमृत को पाना रूप फल-श्रुति अध्यात्म-जीवन की है। अतएव यहां सृष्टि और प्रकृति भी अध्यात्मरूप में हैं। यहां की सृष्टि अध्यात्म सृष्टि है। इन्द्रियादि संघात शरीर और प्रकृति-अध्यात्म प्रकृति है उसका कारणरूप मन। इस प्रकार "विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा" अध्यात्म प्रकृतिरूप मन के नियन्त्रण या विरोध से जन्म-मरण-रूप मृत्यु को तैर कर। अध्यात्मसृष्टि इन्द्रिय-संघात शरीर के द्वारा परमात्मविषयक श्रवण कर "अमृतत्वं" मोक्ष को पाता है।

(११) म. म. आर्यमुनि—"सम्भूति" कार्य और "विनाश" कारण, उक्त दोनों को एक काल में ही जो जानता है वह 'विनाशेन' कारणावस्था से मृत्यु को तर कर कार्य से अमृत को भोगता है।

भाष्य—प्रकृति की ईश्वर भाव से उपासना करने वाले "अमृतं"=चिर-काल तक अमरणरूप प्रकृतिलयता को प्राप्त होते हैं। प्रकृति में लीन होने का नाम ही अन्धतम है और प्राकृत पदार्थों की ईश्वरभाव से उपासना करने वाले कुछ काल तक मृत्यु का अतिक्रमण कर जाते हैं अर्थात् स्थूल शरीर से रहित हो कर उन्हीं प्राकृत पदार्थों में लीन हो जाते हैं। इसीका नाम अत्यन्त अन्धतम अवस्था है।११।

गीता में इस मन्त्र के भाव—अहं सर्वस्य प्रभवः ।१०।८।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।७।६। (काण्व १४)॥११॥ इति

बारहवां मन्त्र

पृष्ठ २१-अन्धन्तम इति—(काण्व में यह ९वां है)

पदार्थ--(ये) जो (अविद्याम्) [केवल] कर्म (अर्थात् ज्ञानरहितकर्म) का (उपासते) उपासना=अनुष्ठान करते हैं (ते) वे (अन्धम्) अज्ञानरूप (तमः) अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं और (ये) जो (विद्याम्) [कर्म-शून्य] ज्ञान में (रताः) मग्न हैं। (ते) वे (ततः) उससे (उ) भी (भूयः इव) मानो अधिक (तमः) अन्धकार में पड़ते हैं।१२।

भिन्न २ सम्प्रदायानुसार पदों के भिन्न २ भाव

यह १२-१३-१४ वां मन्त्र काण्व शाखा में ९।१०।११वां है। आचार्यों ने प्रायः ईशोपनिषद् में काण्व-पाठ ही लिया है, अतः इस मन्त्र को काण्वक्रम से ९ वां मान कर श्री शंकराचार्य लिखते हैं—

"ईशावास्यम्" इस मन्त्र से एषणा त्यागपूर्वक ज्ञाननिष्ठ का वर्णन किया, परन्तु जिन्हें जीवन का मोह है उनके लिये "कुर्वन्नेवेह" इससे कर्मनिष्ठा का और "असुर्याः" इस तीसरे मन्त्र से "स पर्यगात्" इस ८ वें मन्त्र तक अज्ञानी की निन्दा कर आत्मस्वरूप का उपदेश दे के, अब "अन्धंतमः" मन्त्र से कर्मनिष्ठा का श्रुति वर्णन करती है। (विद्या) यहां विद्या शब्द का अर्थ आत्मज्ञान नहीं, किन्तु देवताज्ञान है,

क्योंकि "विद्यया देवलोकः" । बृ. उ. १।५।१६। से उसका फल आत्म-ज्ञान से भिन्न कहा गया है और (अविद्या) का अर्थ कर्म है। एवं मन्त्र का यह अर्थ हुआ, कि वे अज्ञानरूप अन्धकार में प्रवेश करते हैं। जो देवताज्ञान की उपेक्षा कर केवल अग्निहोत्रादि कर्मों का ही अनुष्ठान करते हैं, परन्तु उनसे अधिक अन्धकार में वे गिरते हैं, जो कर्तव्य कर्मों से विमुख हो देवताज्ञान में ही मस्त रहते हैं (९)१२।

अद्वैत संप्रदाय के और विद्वान्—

(क) जो पहले मन्त्रों में कहे आत्म-तत्व को नहीं समझा, अतः जिसे अभी ज्ञान-निष्ठा का अधिकार नहीं, जो संसारिक झंझटों में फंसा हुआ है उसके लिये श्रुति 'अन्धतमः' आदि मन्त्रों का उपदेश करती है। जो धन की अभिलाषा से (अविद्या) कर्म ज्योतिष्टोमादि यज्ञ करते हैं। वे "मैं और मेरे के अभिमानरूप" 'अन्धतम' में पड़ते हैं।

प्रश्न—तो क्या फिर कर्म करना छोडकर देवों की उपासना करे अथवा "अहं ब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्म हूँ। यह कह कर कर्म करना छोड दे।

उत्तर—जिन्हें आत्मतत्व का साक्षात्कार तो नहीं हुआ परन्तु केवल शास्त्र में पढ़ कर कि जीव-ब्रह्म एक हैं, और सर्वकामाप्त ब्रह्म को कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं, इतना मात्र शास्त्र से ज्ञान प्राप्त कर जो कर्तव्य कर्म छोड देते हैं। वे कर्म-त्यागी, उन सकामकर्म करने वालों से भी अधिक "मैं-मेरे" के अभिमानरूप अन्धकार में गिरते हैं। (इति शंकरानन्दः)

(ख) (अविद्या) केवल कर्म करते हैं, वे जन्म-मरणरूप अन्धकार को प्राप्त करते हैं और जो चित्तशुद्धि के बिना ही कर्म छोड़ केवल (विद्या) देवोपासना में मस्त रहते हैं। वे कर्म का अधिकार

होने पर भी कर्म त्याग देने के कारण पाप के भागी हो कर केवल कर्म करने वालों से भी अधिक संसाररूप तम में पड़ते हैं।

विशिष्टाद्वैत--जो (अविद्या) ज्ञानरहित कर्म करते हैं, वे अज्ञान वा नरक में पड़ते हैं और जो अपने कर्तव्य कर्म त्याग कर (विद्या) ब्रह्मोपासना करते हैं, वे उन से भी अधिक अज्ञान में पड़ते हैं।

शुद्धाद्वैत--जो (अविद्या) भगवत् प्रीति के लिये न किये गये बन्धन के हेतु कर्मों को करते हैं, वे जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहते हैं और जो भक्ति-शून्य लोग (विद्या) ब्रह्मज्ञान में लगे हुए हैं, वे उनस भी अधिक मोहान्धकार में पड़ते हैं।

द्वैत—अविद्या कहते हैं, अन्यथा ज्ञान को और 'विद्या' का अर्थ है ज्ञान। जो अन्यथा ज्ञान = विष्णु की निर्गुणरूप से उपासना करते हैं वे अन्धतम में पड़ते हैं और वे उनसे भी कुछ थोड़े से अधिक तम में गिरते हैं, जो विद्या में रत रहने के कारण अन्यथा ज्ञान की निन्दा नहीं करते।

कुछ भाष्यकार—"अविद्या" का अर्थ आनन्दभट्ट और महीधर श्रीशंकराचार्य की भान्ति अग्निहोत्रादि कर्म करते हैं और उवट तथा अनन्ताचार्य स्वर्गादि के लिये कर्म कहते हैं एवं "विद्या" का अर्थ आनन्दभट्ट, अनन्ताचार्य और महीधर तो श्रीशंकर की तरह देवताज्ञान ही करते हैं परन्तु उवट आत्म-ज्ञान कहते हैं। इसी प्रकार श्रीजयदेव "अविद्या" अर्थात् नित्य पवित्र सुख और आत्मा से भिन्न पदार्थों को नित्य, पवित्र, सुख और आत्मा, (उपासते) करके जानते हैं। और "विद्यायां" केवल शास्त्राभ्यास में ही (रताः) लगे रहते हैं।

---

१. अन्यथोपासका येऽस्य ते यान्ति ह्यधरं तमः।
ततः किंचिद्विशेषेण दुर्ज्ञानस्याविनिन्दकाः॥ श्रीमध्वाचार्यः

म. म. आर्यमुनि—"अविद्या" शुचि में अशुचि, आत्मा में अनात्म बुद्धि इत्यादि विपरीतज्ञान और "विद्यायां" ज्ञान में ही रत अर्थात् जो ज्ञान-मात्र के अभिमान में रहकर कर्मों के अनुष्ठान से सर्वथा वर्जित हैं।

श्रीपाद—(अविद्या) अनात्म-ज्ञान वा सृष्टि-विज्ञान और (विद्या) आत्म-ज्ञान। एवं—जो आत्म-विद्या की पूर्णतया उपेक्षा कर केवल सृष्टि विद्या के पीछे लगे हुए हैं, वे अपने प्रयत्नों से जगत् में अशान्ति बढ़ा कर दुःख में पड़ते हैं और जो सृष्टि-विज्ञान की उपेक्षा कर केवल आत्म-ज्ञान में लगे हैं, उसके सिवाय और कुछ नहीं करते, वे जीवन-यात्रा के साधन भी न प्राप्त कर सकने के कारण सृष्टि-विद्या के उपासकों से अधिक अन्धकार में पड़ते हैं।

गीता में व्याख्या—यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ॥३।९॥

वृहन्नारदपुराणे—अहं ममेत्यविद्येयं व्यवहारस्तथानयोः।
परमार्थस्त्वसंलाप्यो वचसां गोचरो न यः॥
वृ. ना. पू. ख. अ. ।४७।५५।

स्कन्दपुराण—तस्य शक्तिः परा विष्णोर्जगत् कार्य परिक्षमा।
भावाभावस्वरूपा सा विद्याविद्येति गीयते॥
स्कन्द प्र. खं २२४।९।
(काण्व ९) १२॥

तेरहवां मन्त्र

पृष्ठ २३—अन्यदेवेति (काण्व में यह १० वां है)

पदार्थ—(विद्यायाः) ज्ञान के अनुष्ठान से (अन्यत् एव) दूसरा ही (आहुः) कहते हैं और (अविद्यायाः) कर्मों के अनुष्ठान से वा मिथ्याज्ञान का (अन्यत्) दूसरा (आहुः) बतलाते हैं, (इति) इस प्रकार (धीराणाम्) विद्वानों से

हमने (शुश्रुम) सुना (ये) जो (नः) हमें (तत्) उस ज्ञान और कर्म के विषय को (विचचक्षिरे) विशेष रूप से उपदेश करते हैं ।१३।

काण्वपाठ—(विद्यया) और (अविद्यया) है। ऊपर जो (विद्यायाः) तथा (अविद्यायाः) का अर्थ दिया है ! वही इन दो पदों का भी है।

भिन्न २ भाष्यों के भिन्न २ भाव

अद्वैताचार्य शंकर तथा आनन्द—जिन्हों ने हमें इस कर्म और ज्ञान का उपदेश दिया था, उन धीमानों से हमने सुना, कि (विद्या) देवताज्ञान से और अर्थात् देवोपासना से देवलोक की प्राप्ति तथा कर्म से और अर्थात् पितृलोक की प्राप्ति होती है। भाव यह है कि दोनों का पृथक्-पृथक् फल है।

उवट, अनन्त और महीधर—(विद्या) आत्मज्ञान से अमृत-रूप फल और (अविद्या) केवल कर्म से पितृलोक की प्राप्ति होती है।

विशिष्टाद्वैत—जिन उपनिषदों वा धीमान् पूर्वाचार्यों ने हमें मोक्ष-साधन का उपदेश दिया। उनसे हमने सुना। वे (विद्यया) कर्म-रहित विद्या से मोक्ष-साधन भिन्न दूसरा, और (अविद्यया) ब्रह्मज्ञान के बिना कर्म से भी मोक्ष-साधन को भिन्न ही बतलाते हैं।

शुद्धाद्वैत—जिन आचार्यों ने उपनिषद्-प्रतिपाद्य ब्रह्म = पुरुषोत्तम का व्याख्यान किया है। उन धीरों से हमने सुना कि (विद्यया) ब्रह्मज्ञान का फल और, अर्थात् भगवद् विषयणी बुद्धि का प्राप्त होना है और (अविद्यया) कर्म का (तत्कर्म हरितोषं यत्) [कर्म वही है जो भगवान् की प्रसन्नता के लिये किया जाय] उस कर्म का फल और है।

द्वैत—जिन बुद्धिमान् विद्यावृद्धों ने हमें मोक्ष साधन की व्याख्या करके बतलाया है उनका कहना है, कि (विद्यया) यथार्थ ज्ञान (अर्थात्

---

१. विद्यया, अविद्यया अत्र पञ्चम्यर्थे तृतीया इति नारायणः।

ईश्वर से जीव भिन्न है। यह ज्ञान) मोक्ष साधन का एक भाग है और (अविद्यया) अन्यथा ज्ञान की निन्दा (अर्थात् जो जीव ईश्वर में भेद नहीं मानते उनके मत से अज्ञान दुःखादि भी सब ब्रह्म में ही हैं इस (अविद्या) अन्यथा ज्ञान की निन्दा) मोक्ष साधन का दूसरा भाग है, ऐसा हमने सुना है।

श्रीपाद—(विद्यया) आत्मज्ञान का फल और है अर्थात् उससे आत्मशक्ति का विकास होता है, बन्धन दूर होते हैं, अखण्ड आनन्द मिलता और अमृतत्व प्राप्त होता है। (अविद्यया) सृष्टि-विद्या को जानने का फल और है। उससे उपभोग के साधनों की प्राप्ति होती है। सृष्टि-विद्या से भोग साधन तो मिलते हैं, किन्तु शान्ति नहीं मिलती, और आत्मज्ञान से शान्ति तो मिलती है, परन्तु केवल उसी में लगे रहने से जीवन-यात्रा चलनी कठिन हो जाती है।

म. म. आर्यमुनि—(विद्यया) तत्त्व ज्ञान का फल मोक्ष होता है और मिथ्या ज्ञान का जन्म रूप और ही होता है। यह हमने धीरों से सुना है, जो हम को उसका उपदेश करते हैं।

वेदभाष्यकार जयदेव—विद्या का फल और कार्य दूसरा बतलाते हैं और अविद्या का फल और ही बतलाते हैं। जो हमें विद्या और अविद्या के स्वरूप का उपदेश करते हैं। हम उन बुद्धिमान् पुरुषों के मुख से इस तत्व का श्रवण करें।

गीता में इस मन्त्र की व्याख्या—

विद्या का फल—ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम् ।४।३९।

कर्म का फल—कर्मणैव हि संसिद्धिम् ।३।२०।

असक्तो ह्यचरन् कर्म ।३।१९।

बृहन्नारदीय पुराण—विद्या त्वावरणं भित्वा ज्ञानशक्तेः स्वकर्मणा।

बृ. ना. पू. अ. ६२।५२।

अविद्यासंचितं कर्म तच्चाशेषेषु जंतुषु। बृ. ना. पू. ४८।६१। इति।

भागवत—योऽविद्यायुक् स तु नित्यबद्धो,
विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः। भागवत।११।११।७।
(काण्व. १०)१३॥

चौदहवां मन्त्र

पृ. २३ विद्यामिति—(काण्व में यह ११वां है)

पदार्थ—(यः) जो पुरुष (तत्) उन (उभयम्) दोनों (विद्याम्) ज्ञान के तत्व को (च) और (अविद्याम्) कर्मतत्व को वा विपरीत ज्ञान को (च) भी (सह) साथ २ एक समय में इकट्ठा (वेद) ठीक २ जान लेता है। वह (विद्यया) कर्मों के अनुष्ठान से, (मृत्युम्) मृत्यु को (तीर्त्वा) पार करके (विद्यया) ज्ञान के अनुष्ठान से (अमृतम्) अमृत को (अश्नुते) प्राप्त करता है॥१४॥

भिन्न २ भाष्यों के भाव

अद्वैत— श्री शंकर—(क)(विद्या) देवताज्ञान और (अविद्या) कर्म इन दोनों को जो एक साथ एक ही पुरुष से अनुष्ठान करने योग्य जानता है। इस प्रकार कर्म-समुच्चय करने वाले (अविद्या) अग्निहोत्र कर्म से (मृत्युं) अर्थात् स्वाभाविक कर्म और ज्ञान का अतिक्रमण करके (विद्या) देवताज्ञान से (अमृतं) देवतात्मभाव को प्राप्त करता है। देवता होने को ही यहां अमृत होना कहा है।

(ख) **शंकरानन्द**—(विद्या) देवताज्ञान वा अपरिपक्व-सा ब्रह्मज्ञान और (अविद्या) कर्म। जिसे वैराग्य तो हो गया है, परन्तु कर्मों के त्यागने की सामर्थ्य अभी उत्पन्न नहीं हुई, इस अन्तरावस्था में जो कर्म को उपाय और ब्रह्मज्ञान को उपेय (उपाय का साध्य) जान कर दोनों का अनुष्ठान करता ह। वह (विद्यया) कर्मज्ञान

से (मृत्युं) आत्मज्ञान के प्रतिबन्धक स्वाभाविक कर्मज्ञान और दुःखकारण को आत्मज्ञानोत्पन्न करने द्वारा (तीर्त्वा) दूर करके (विद्यया) "अहं ब्रह्मास्मि" "मैं ब्रह्म हूँ" इस भावना के साक्षात्कार से (अमृतम्) ब्रह्मात्मभाव को प्राप्त करता है। अथवा—देवताज्ञान से 'आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते' इस वचन के अनुसार अमृत का अर्थ प्रलय पर्यन्त ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है।

(ग) (विद्या) देवता उपासना और (अविद्या) कर्म इन दोनों के समुच्चय को जो जानता है वह कर्म से स्वाभाविक अज्ञान, विस्मरण रूप मृत्यु को (तीर्त्वा) दूर करके (विद्यया) देवता-उपासना से (अमृतम्) देवतात्मभाव को प्राप्त करता है। अथवा कर्मोपासना भी मानसिक कर्म ही है उससे अपने स्वरूप की विस्मृति का हेतु चित्त मल जो मन की एकाग्रता का विरोधी होने से मृत्यु कहलाता है। उसे चित्त की एकाग्रता द्वारा दूर करके (विद्यया) आत्मज्ञान से (अमृतम्) मुक्ति लाभ करता है ॥१४॥

विशिष्टाद्वैत—(क) जो (अविद्या) कर्म को (विद्या) ब्रह्मोपासना का अङ्ग मान कर अंगांगीभाव से अनुष्ठान करता है। वह (मृत्युं) ज्ञान में विघ्न डालने वाले पुण्य-पाप के प्रभाव को (तीर्त्वा) बिल्कुल दूर कर (विद्यया) परमात्मा की उपासना से मोक्ष पाता है। यहां "मृत्यु" से तैरने का अर्थ है, विघ्नों से छुटकारा पाना और "अमृत" का भाव है समस्त पापों से छूट जाना।१४।

(ख) (विद्या) परमात्मा की उपासना और (अविद्या) ऐसे कर्म जो ईश्वरोपासना के विरोधी न हों, उन्हें जो समझ लेता है, वह (अविद्या)उन कर्मों से (मृत्युं)ज्ञान संकोच करने वाले पहले किये हुए समस्त कर्मों को लांघ कर (विद्यया) परमात्मा की झलक दिखलाने वाली उपासना से (अमृतं) परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

(ग) 'कुर्वन्नेवेह' इस दूसरे मन्त्र से कर्मयोग को आत्मदर्शन द्वारा भक्ति का उत्पादक बतलाया है। यहां जिस विद्वान् के भक्ति उत्पन्न हो गई है, वह (अविद्या) कर्म को ब्रह्मोपासना का अंग जान कर प्रतिदिन के नित्य-नैमित्तिक कर्म के अनुष्ठानद्वारा (मृत्युम्) ज्ञान की उत्पत्ति में विघ्नरूप पहले किये हुए पुण्य-पाप की मैल को पूरी तरह (तीर्त्वा) दूर कर (विद्यया) परमात्मा की उपासना से (अमृतम्) मोक्ष को प्राप्त करता है।

(घ) यहां प्रकरण से अविद्या का अर्थ वर्णाश्रमविहित कर्म हैं। अतः कर्म और ज्ञान का अङ्गाङ्गीभाव होने से विद्या से ही मृत्युतरण बतलाया है।

शुद्धाद्वैत—जो (विद्या) पुरुषोत्तम विषयक ज्ञान और (अविद्या) परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये किये गये कर्म इन दोनों को सहचारी जानता है। वह (अविद्या) परमेश्वर प्रीत्यर्थ कर्मों से (मृत्युम्) संसार को (तीर्त्वा) तैर कर (विद्यया) परमेश्वर विषयक ज्ञान से (अमृतं) रसरूप (रसो वै सः) आनन्दमय पुरुषोत्तम भगवान् का अनुभव करता है।

द्वैत—(विद्या) यथार्थज्ञान और (अविद्या) अन्यथा ज्ञान की निन्दा से अर्थात् जो परमेश्वर को दुःखरहित और आनन्दस्वरूप दोनों जान कर उसकी उपासना करता है। वह (अविद्या) दुःख और अज्ञानादि परमेश्वर में हैं, इस अन्यथा ज्ञान की निन्दा से (मृत्युं) दुःखों से छुटकारा पाकर (विद्यया) यथार्थ ज्ञान अर्थात् परमेश्वर को सुख और ज्ञान स्वरूप जान कर उसकी उपासना करने से (अमृतम्) सुख और ज्ञानादि प्राप्त करता है।

वैदिक भाष्यकार—"विद्या" का अर्थ "देवता ज्ञान" और "अमृत" का "देवतात्मभाव" महीधर तथा आनन्दभट्ट करते हैं और विद्या का "आत्मज्ञान" और "अमृत" का मोक्ष अर्थ, उवट तथा अनन्ताचार्य ने किया है। एवं द्वैताचार्य की भान्ति "अविद्या" का अर्थ

"अन्यथाज्ञान की निन्दा" अनन्ताचार्य ने किया है और शेष तीनों भाष्यकार अद्वैताचार्य का अनुसरण कर "अविद्या" का अर्थ "कर्म" करते हैं। आनन्द ने (विद्यया) का अर्थ वेदान्त ज्ञान, उवट ने ब्रह्म-ज्ञान, महीधर ने आत्मज्ञान और अनन्ताचार्य ने देवताज्ञान भी किया है।

श्रीपाद—जो (अविद्या) सृष्टि-विद्या और (विद्या) आत्म-विद्या को साथ २ जानता है। वह सृष्टि-विद्या से मृत्यु का भय हटाकर आत्म-विद्या से अमृतत्व मोक्ष, पूर्ण स्वातन्त्र्य को प्राप्त करता है।

ब्रह्ममुनि—विद्या, अविद्या। ज्ञान और कर्म है अर्थात् आन्तरिक कर्म कर्मयोग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्यहार, धारणा ध्यान, समाधि, अष्टाङ्ग योगाभ्यास से अमर पद मोक्ष को पाता है।

म. म. आर्यमुनि—(विद्या) यथार्थ ज्ञान और (अविद्या) विपरीत ज्ञान इन दोनों को ठीक २ जानता है। वह (अविद्या) विपरीत ज्ञान के द्वारा मृत्यु को तैर कर अर्थात् निन्दित कर्मों को न करके यथार्थ ज्ञान से मुक्ति को भोगता है।१४।

गीता में—यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। गी. ५।५।

उपनिषद्—क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या,
विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः। श्वेताश्वेतर।५।१।

केन उपनिषद्—विद्यया विन्दतेऽमृतम्। केन।२।४।

विष्णु पुराण—इयाज सोऽपि सुबहून् यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः।
ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय तर्तुं मृत्युमविद्यया। विष्णु पुराण।६।६।१२।
अहं ह्यविद्यया मृत्युं तर्तुंकामः करोमि वै।
राज्यं यागांश्च विविधान् भोगैः पुण्यक्षयं तथा।
विष्णु पुराण।६।७।९। इति
(काण्व ११)१४।।

पंदहरवां मन्त्र

पृष्ठ २५ वायुरिति— (काण्व में पाठभेद से यह १७वां है)।

पदार्थ —(वायुः) प्राणवायुः (अनिलम्) शरीर से निकल जाने पर (अमृतम्) अमर हो जाता है। (अथ) और (इदम्) यह (शरीरम्) शरीर (भस्मान्तम्) राख होने तक है। अतः (क्रतो) हे जीव ! तू (ओम्) परमेश्वर का (स्मर) स्मरण कर (क्लिबे) लोकप्राप्ति के लिये (स्मर) [उस परमेश्वर का] स्मरण कर और (कृतं) अपने किये शुभाशुभ कर्मों का (स्मर) स्मरण कर।१५।

काण्व पाठ—ओं क्रतो स्मर, कृत ँ स्मर, क्रतो स्मर कृतँ स्मर (१७) १५।

इस पाठ में "क्लिबे" नहीं है और 'क्रतो स्मर कृत ँ स्मर' को ही दो बार पढ़ दिया है। जिस का पहले अर्थ कर दिया गया है। भाष्यकारों का कहना है कि "क्रतो स्मर कृतँस्मर" को दो बार पढ़ना आदर के लिये है। कोई २ यह भी कहते हैं कि त्वरा वा भय के कारण दो बार पाठ किया है।

भिन्न २ भाष्यकारों ने इस मन्त्र के वायु पद के १ वायु २ प्राण ३ लिङ्ग शरीर और जीव अर्थ किये हैं। इस प्रकार (अनिलम्) के १ बाहिरी वायु २ प्रधान वायु ३ सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ ४ आश्रयहीन ५ ब्रह्म में स्थित और ६ पार्थिव। एवं क्रतु का अर्थ १ जीव २ संकल्प और ३ परमात्मा किये हैं।

उवट—जिसने ब्रह्म की उपासना की है, उस योगी का मृत्युकाल के अनन्तर क्या होता है ? यह बतलाया है, कि (वायुः) वायु से यहां ११ इन्द्रियां पंचमहाभूत और जीवात्मा इन १७ तत्वों का ग्रहण होता है, अतः वायु अर्थात् लिङ्ग शरीर (अनिलं) अपने कारण (अमृतं) अविनाशी परब्रह्म को जान कर वही हो जाता है और स्थूल शरीर

जो अन्त में भस्म हो जाने वाला है, वह भस्म हो जाता है। उस समय (ओं) यह ब्रह्म का नाम ही योगी का अवलम्बन रह जाने से अन्त समय उसी को स्मरण करता है कि जिस अग्नि की ब्रह्मचर्य से मैंने सेवा की है और जो मेरे में वासनारूप से बस रहा है उसे संबोधन करता हूं। हे क्रतो! अग्ने वा यज्ञ! प्रत्युपकार का समय आगया है, अब (स्मर) मेरा ध्यान कर। (क्लिबे स्मर) लोक के लिये मुझे स्मरण कर (कृतं स्मर) मैंने जो किया है उसका स्मरण कर।

महीधर--लिङ्गशरीर अधिदैवतरूप सर्वात्मक अमृत सूत्रात्मा को प्राप्त हो।

अनन्दभट्ट--(ओं) यह योगी का बल और सब वेदों का सार है। 'ओं' के अकार, उकार और मकार ये क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और शिव के प्रतीक हैं। यह आत्मरूप ओंकार सर्वत्र व्याप्त है। (क्रतो) श्रीभगवन्नाम अग्ने! यद्वा विष्णो! तूने जो कराया और मैंने आपकी आज्ञा से किया, उसे स्मरण करें।

अनन्ताचार्य--(ओम्) ओत (अन्तर्व्याप्ति) गुण युक्त हे क्रतो! ज्ञान-स्वरूप मुझ से किये गये ध्यान आदि का स्मरण कर।

(क) **अद्वैत श्री शंकराचार्य**—मुझ मरने वाले का लिङ्ग शरीर अध्यात्म-परिछद छोड कर सूत्रात्मा को प्राप्त हो और यह शरीर अग्नि में डाल देने पर भस्म हो जाय। "ओं" ऐसा कहने से सत्यरूप अग्नि-संज्ञक ब्रह्म ही अभेद से कहा है। हे क्रतो संकल्पात्मक! इस समय मेरा जो स्मरणीय है। उसे स्मरण कर, क्योंकि उसके स्मरण का समय है। यहां 'स्मर' शब्द की पुनरुक्ति आदर के लिये की गई है।

(ख) **ब्रह्मानन्द**—(अमृतम्) मैं अमृत आत्मा हूं (क्रतो) किये हुए शुभाशुभ कर्मों को निर्बीज करने के लिये (स्मर) स्मरण कर।

(ग) **शंकरानन्द**—(ओं) ओंकार नाम वाले ईश्वर आदित्य (क्रतो स्मर) संकल्परूप मुझ उपासक का स्मरणकर (कृतं स्मर) मेरे ज्ञान और किये

कामों का स्मरण कर। हे जीव ! आत्मा का स्मरण कर और अपने किये कर्मों का स्मरण कर।

(घ) **रामचन्द्र**—आत्मज्ञानी में कोई कामना शेष नहीं रहती। अतः मृत्यु के अनन्तर उसका फिर जन्म नहीं होता। इस लिये कहा है, कि आत्मज्ञानी का (वायुः) लिङ्ग शरीर (अमृतं) ब्रह्म हो गया और यह पार्थिव शरीरं भस्म होकर यहीं पृथ्वी पर रह जायेगा। अब वह किसी देवता की प्रार्थना नहीं करता, क्योंकि वह जान गया है, कि मैं स्वयं ब्रह्म हूं। अथवा अन्यदेवों की उपासना करने वाला परलोक गमन के समय अपने इष्टदेव से प्रार्थना करता है। (वायुः) मेरा लिङ्गशरीर निकल कर (अमृतं) जहां मृत्यु की पहुँच नहीं, उस सूत्रात्मा को जा मिले और यह शरीर भस्म हो जाना ही जिसका परिणाम है। पृथ्वी का अंश होने से पृथ्वी पर रह जाय। (ओं) जो सब पदार्थों में व्यापक सब प्राणियों का रक्षक, स्वयं प्रकाशमान ब्रह्म है, वह तू (क्रतो) यज्ञरूप वा संकल्परूप मेरे लिये जो इष्ट है, उसे (स्मर) स्मरण कर। (क्लिबे) मेरी प्राप्ति योग्य जो लोक है, मुझे देने के लिये उसका (स्मर) स्मरण कर।

दिगम्बरानुचर--(ओं क्रतो स्मर) मैंने इस समय तक अग्नि पुरुष परमेश्वर की आराधना की। अब अन्तकाल में शक्तिशून्य मुझ को स्मरण कर। हे (क्लिबे) अग्ने ! मैंने इतने समय तक तेरे लिये हवन किया है, अतः मुझे याद रख। जो तेरी आराधना की है, उसे याद रख। हवन करने की शक्ति न होने से उसका स्मरण बतलाने से यह बतलाया कि शरीर में जब तक प्राण रहें तब तक काम करता ही रहे, शक्ति न होने पर स्मरण ही करे। फिर देहत्याग के बाद (वायुः) प्राण (अमृतं) अविनाशी (अनिलं) वायु के अधिदेव में जाय और यह भस्म होने वाला शरीर भस्म होकर पृथ्वी पर उसका अन्त्येष्टि-कर्म विधिपूर्वक हो।

विशिष्टाद्वैत—अपने ज्ञान और कर्म के अनुसार इधर-उधर जाने वाला (वायुः) जीव (अनिलम्) आश्रयरहित तथा (अमृतम्) अमर है। (अथ) और (इदम्) यह (शरीरम्) शरीर (भस्मान्तं) भस्म होने वाला है। वायु=जीव को इधर-उधर जाने वाला कहने से श्रुति ने जीव का अणु परिमाण वाला तथा ईश्वराधीन होना और "अमृतं" से उसका अविनाशी होना सूचित किया, एवं (भस्मान्तं) से शरीर को नाशवान् बतलाया है। इस प्रकार भोक्ता आत्मा और भोग्य शरीर के विषय में कह कर अब श्रुति प्रेरक परमात्मा के विषय में कहती है।

(ओं) यह परमात्मा का नाम है, अथवा यहां (ओं) अपने आत्मा को परमात्मा के अर्पण कर देने के अर्थ में आया है। क्रतुरूप वा भक्तिरूप भगवान् से अनुग्रह की याचना करता है। हे (क्रतो!) यज्ञ-रूप परमेश्वर वा भक्तिमय भगवान् (स्मर) अनुग्रहपूर्वक मेरा ध्यान कीजिये। (कृतं स्मर) मैंने जो अनुकूल कार्य किये हैं उसे स्मरण कर के मेरी रक्षा कीजिये। यद्वा—इतना सा जो मैंने आपके अनुकूल आचरण किया है उसे आप ही पूर्ण कीजिये। अथवा मैं जो आपकी आज्ञा के अनुकूल कर सका हूं उसे आप जानते ही हैं, अतः मेरी कमियों को पूर्ण कर मेरी रक्षा कीजिये। (कृतं स्मर) के दो बार कहने का तात्पर्य यह है कि शीघ्र कृपा कीजिये। अथवा पुनरुक्ति आदरातिशय वा भय को प्रकट करती है।

शुद्धाद्वैत—(वायुः) गन्धवाहक पवन चल रहा है (अनिलं[1]) वाणी से अगोचर (अमृतं) दर्शनरूप अमृत दे। (अथ) यदि तेरा दर्शन प्राप्त न होगा तो (इदम्) यह (शरीरं) हमारा शरीर तेरे विरह की अग्नि से (भस्मान्तं) भस्म हो जायेगा। (ओं) रक्षक (क्रतो) हमें स्वीकार करने वाले (स्मर) हमारा भी ध्यान कर। (कृतम्) हमने पुत्र, भाई आदि बान्धवों

---

१. वागगम्यम्, इला—कलत्रं सोमस्य, धरिण्यां गवि वाचि च इति मेदिनी।

को छोड कर आपकी शरण ग्रहण की है। अतः हमारे उस किये का (स्मर) स्मरण कर, वा अपने स्वीकार करने के वचन को स्मरण कर। यहां द्विरुक्ति विरहोत्कटता की द्योतक है।

द्वैत—श्री मध्वाचार्य ने इस मन्त्र को दो भागों में विभक्त कर इसे दो मन्त्र माना है, अतः इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध या यों कहना चाहिये पहले मन्त्र के दूसरों के किये अर्थ पर वह शंका करते हैं कि (वायुः अनिलम्) इसका कइयों ने यह अर्थ किया है कि मरने वाले का प्राणवायु बाहिर की वायु में मिल जाय। परन्तु यह तो प्रार्थना के बिना भी होता ही है। यदि यही अर्थ हो तो इसके लिये प्रार्थना करना व्यर्थ है, अतः इसका अर्थ वह नहीं, यह अर्थ है—यद्यपि शरीर का अन्त भस्म होना ही है, पर परमेश्वर तो अमर है क्योंकि (वायुः) वायु (अः) ब्रह्म (निलं-निलयं) आश्रय है। जिस वायु में परमेश्वर नियामक रूप में है अर्थात् परमेश्वर जिसका आश्रय है। वह वायु भी जब (अमृतम्) अमर है, तो परमेश्वर के अमर होने में संदेह ही कैसे हो सकता है? (१८ मध्व)

(मंत्र के उत्तरार्द्ध या दूसरे मन्त्र पर वह लिखते हैं—अधिकारी शिष्य के लिये परमात्मा का स्वरूप वर्णन करके उसके साक्षात्कार को मोक्ष का साधन कहा है। पर वह ईश्वर का साक्षात्कार केवल श्रवण से नहीं होता और न ही मोक्ष साक्षात्कार मात्र से हो जाता है। जैसे राजा के दर्शन मात्र से बन्दी के बन्धन अपने आप

---

१. ईशावास्य के माध्यन्दिन शाखा में १७ और काण्व में १८ मन्त्र हैं। श्री मध्वाचार्य के काण्व शाखा के १६वें मन्त्र के पूर्वार्द्ध को १६वां और उत्तरार्द्ध "योसावसौ पुरुषस्सोहमस्मि" को १७वां, एवं "वायुर-निलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरं" इस १७वें मन्त्र के पूर्वार्द्ध को १८वां और उत्तरार्द्ध "ओं क्रतो स्मर कृतꣳस्मर ओं क्रतो स्मर, कृतं स्मर" को १९वां मन्त्र बता कर ईशावास्य के मन्त्रों की संख्या २० मानी है।

ही नहीं कट जाते, किन्तु उसके लिये राजा की कृपा का होना आवश्यक होता है, और वह कृपा प्राप्त करने के लिये बन्दी को प्रार्थना करनी पड़ती है। वैसे ही श्रवण आदि कर चुकने पर भी भगवत् साक्षात्कार करने और जिसने साक्षात्कार कर लिया है, उसे मोक्ष प्राप्ति के लिये भगवत्प्रार्थना करनी होती है। अतः यहां प्रार्थना करने का श्रुति उपदेश करती है। परन्तु कईयों ने इसका यह अर्थ किया है। परमेश्वर मेरे किये का स्मरण कर। पर, ईश्वर तो नित्य ज्ञान स्वरूप ही है। वह किसी को नहीं भूलता (अतः मेरे किये का स्मरण कर आदि अर्थ ठीक नहीं। यहां स्मरण का अर्थ अनुग्रह है।) अतः मन्त्र के उत्तरार्द्ध का अर्थ यों है (ओं) प्रणव- प्रतीक भगवान् वा व्यापक जगदाधार (क्रतो) अग्निप्रतीक परमेश्वर (स्मर) मुझ पर अनुग्रह कर। (१९ मध्व)

म. म. आर्यमुनि—(वायुः) प्राणवायु (अनिलं) वाह्यवायु को जो (अमृतं) अमृत है। उस कारण अवस्था को प्राप्त हो जाता है (अथ) तदनन्तर यह शरीर (भस्मान्तं) दाह योग्य हो जाता है (ओं) ओं का (क्रतो) हे जीव! स्मरण कर (क्लिबे) अपने भविष्य के लिये स्मरण कर (कृतं) किये कर्मों का रमरण कर। शरीर का अन्तिम संस्कार भस्ममात्र ही है। अर्थात् दाहक्रिया के अनन्तर फिर शरीर का कोई संस्कार शेष नहीं रहता।

प्रो. राजाराम (क्लिबे) का अर्थ,—बलप्राप्ति के लिये करते हैं।

गीता में इस मन्त्र का आशय—वायुर्गन्धानिवाशयात्। १५।८। अमृतस्या व्ययस्य च। १४।२७। ओं तत्सदिति। १७।२३। अहं क्रतु रहं यज्ञः।९।१६। अन्तकाले च मामेव स्मरन्।८।५। यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।८।६।

विष्णु संहिता—अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम् (नारायणः)

इति। (काण्व १७) १५।

सोलहवां मन्त्र

पृष्ठ २६—अग्ने नयेति—(काण्व में यह १८वां)

पदार्थ—(अग्ने) हे अग्निदेव (अस्मान्) हमें (राये) धन वा मुक्ति के लिये (सुपथा) अच्छे मार्ग से (नय) ले चल। (देव) दाता (आप हमारे) (विश्वानि) सब (वयुनानि) ज्ञान वा कर्मों को (विद्वान्) जनने वाले हैं। अतः (अस्मत्) हमारे (जुहु- राणम्) प्रतिबन्धक (एनः) पाप को (युयोधि) हमसे पृथक् करदें। (ते) तेरे लिये हम (भूयिष्ठाम्) बार-बार (नमउक्तिम्) वाणी से नमस्कार (विधेम) करते हैं। १६।

भिन्न-भिन्न भाष्य तथा टीकाकारों का संक्षिप्त आशय

अद्वैत—(क) श्री शंकराचार्य—सभी ज्ञान और कर्मों को जानने वाले अग्निदेव ! मैं बार-बार आवागमन रूप दक्षिण मार्ग से चलता- चलता ऊब कर प्रार्थना करता हूँ। कि हमें (राये) कर्मफल भोगने के लिये जन्म-मरण के चक्र से छुडाने वाले अच्छे मार्ग से ले चल और हम से वञ्चनात्मक पापको पृथक् कर अर्थात् मिटा दे। तब हम शुद्ध हो जाने से अपना इष्ट प्राप्त कर लेंगे। इस समय हम तेरी उपासना करने में असमर्थ हैं। अतः तेरे लिये बहुत सी नमस्कार करके ही तेरी सेवा करते हैं।

(ख) ब्रह्मानन्द—(नम उक्तिं विधेम) अपने इस मृत्यु समय सेवा करने में असमर्थ होने से बार-बार नमस्कार करता हूँ। मुझे ब्रह्मलोकों में पहुँचाने लिये अच्छे मार्ग से ले चल।

रामचन्द्र—(जुहुराणम्) मैंने व्यवहार के लिये जो वंचन वा प्रवञ्चन किया है। उस (एनः) पाप को। (युयोधि) नाश कर दे। जिससे निष्पाप होकर मैं (राये) मुक्तिरूप फल भोगने के योग्य होजाऊं। (नम उक्तिं) मैं सेवा तो क्या, इस समय मरणासन्न होने से आपको

नमस्कार करने में भी असमर्थ हूँ। अतः मुख से बार बार 'नमः' यह शब्द कह रहा हूँ। इसीसे प्रसन्न हूजिये।

विशिष्टाद्वैत—(क) (अग्नि) अग्निरूप परमेश्वर अन्तर्यामी ब्रह्म (राये) ऐसे ब्रह्मप्राप्तिरूप सुस्थिरधन (जिसे चोर राजा और दायाद ले न सकें) उसके लिये अर्चि मार्ग से (अस्मान्) हम जो तेरे अनन्य भक्त हैं, उन्हें। (नय) ले चल। (देव) दाता वा लीलामय भगवान् (सर्वाणि) सभी (वयुनानि) ज्ञानप्रधान—धर्मार्थ-काम-मोक्ष चारों पुरुषार्थों के उपायों को (विद्वान्) जानने वाले (जुहुराणम्) बन्धनात्मक वा कुटिल (विहित कर्मों के न करने तथा निषिद्ध के करने से) जो (एनः) पाप हम से हुआ हैं उन्हें (युयोधि) नाश कर दें। यद्यपि पूर्णकाम परमेश्वर सभी कुछ तेरा है। तुझे किसी वस्तु की कामना नहीं। फिर भी भक्तों के सुधार के लिये तू उन्हें अहंकार-रहित और नम्र देखना चाहता है। इस लिये हम बार-बार तेरे सामने झुकते हैं, नम्र होते हैं।

शुद्धाद्वैत—वेद श्री पुरुषोत्तम के हृदय रूप हैं, उनकी अभिव्यक्ति भगवान् के मुखरूप अग्नि [श्री आचार्य] से ही होनी चाहिये। अतः (अग्ने) भगवान् के मुख (अस्मान्) (भगवान् के हृदय=अभिप्राय के जिज्ञासु) हम लोगों को [श्री पुरुषोत्तम के अनुग्रह[1] से आलिङ्गत] सुन्दर मार्ग से भगवत्प्राप्ति रूप सर्वोत्तम (राये) धन के लिये (नय) ले चल। क्योंकि आप (देव वयुनानि) रासक्रीड़ा करने वाले श्री पुरुषोत्तम के क्रीड़ा-कौशल को (विद्वान्) जानते हैं और

---

१. दैवी जीवों के उद्धार की इच्छा स होने वाली अपनी अभिव्यक्ति ही अनुग्रहलिङ्गित है। एवं अपने हृदयाभिप्राय की अभिव्यक्ति के अनन्तर होने वाला भगवान् के विरह का अनुभव ही दैवी जीवों का उद्धार है। इति श्री रघुनाथप्रसादः।

(अस्मत्) हम से (जुहुराणं) भगवान् को भुलाने के कारण कुटिल (एनः) विमुखता रूप पाप को (युयोधि) दूर कीजिये ।

द्वैत—साक्षात्कार की प्रार्थना के अनन्तर अग्नि जिसका प्रतीक है, उस भगवान् से मोक्ष की प्रार्थना करते हैं। हे अग्ने ! हमें पुनरावृत्ति-वर्जित अर्चि आदि मार्ग से मोक्षरूप धन प्राप्ति के लिए लेचल। हे देव मोक्ष के लिये प्राप्त किये हुए हमारे सम्पूर्ण ज्ञान को आप जानते हैं। संसार में भटकाने वाले पाप को हमसे दूर कर। भक्ति और ज्ञान से तुझे नमस्कार कहते हैं। (मा. १६ का. १८।मध्वः २०।)

श्री सायणाचार्य—हे अग्ने ! इसने यह किया और यह अब कर रहा है। यह सभी जानने वाले प्रकाशमान् देव ! क्योंकि आप सभी जानते हैं, इसलिये हमें अच्छे मार्ग से (राये) स्वर्गादि प्राप्ति के लिये लेचलें और कुटिलताकारी पाप, जिस का फल प्रतिबन्धकरूप है, उसे हमसे पृथक् कर। हम तेरी बहुत ही स्तुति करते हैं।

उवट—अग्ने ! देव मार्ग से मुक्तिरूप धनके लिये सब दान आदि गुण-युक्त, ज्ञान को जानने वाले हम से प्रतिबन्धक पाप को पृथक् कर दे।

महीधर—योगी फिर अग्नि जिस का प्रतीक है उस ब्रह्म से याचना करता है। सभी कर्म और ज्ञानों को जाननेवाले दानादि गुणयुक्त अग्ने ! मैं आवागमनवाले दक्षिण मार्ग में फंसा हुआ तुझ से याचना करता हूँ, कि जिस मार्ग से फिर पुनरागमन नहीं होता, उस सुन्दर देवयान से मोक्षरूप कर्मफलप्राप्ति के लिये मुझे लेचल और हम से प्रतिबन्धक वञ्चनात्मक पाप को पृथक् (अर्थात् नाश) करदे. हम

---

१. यदस्मान् कुरुतेऽन्त्यांस्तदेनोऽस्माद्वियोजय ।
नय नो मोक्षवित्तायेत्यस्तौद्यज्ञं मनुस्वराट् ॥ इति स्कन्दे ।

२. त्वद्दत्तया वयुनयेदमचष्ट विश्वं सुप्तप्रबुद्ध इव नाथ भवत्प्रपन्नः ।
भागवत ४।९।८ ।

बार-बार तुझे नमस्कार करते हैं, क्योंकि अभी पाप शेष होने से सेवा नहीं कर सके, शुद्ध हो कर सेवा करें।

आनन्द भट्ट--हे भगवन्नग्ने सर्वज्ञ कर्म और ज्ञान का फल भोगने के लिये हमें देवयान मार्ग से ले चल। देव! हम से वञ्चनात्मक पाप को पृथक् कर, निष्पाप हो कर हम इष्ट फल पायें, किन्तु अभी हम इस समय कुछ करने में असमर्थ होने के कारण बहुत से नमस्कार वचनों से ही तेरी सेवा करते हैं।

अनन्ताचार्य—साक्षात्कार के अनन्तर अग्निरूप भगवान् से प्रार्थना करते हैं। हे अग्ने! देव! लीलामय भगवान्! मोक्ष के लिये देवयान से से ले चल। आप सभी कर्मों और ज्ञानों के जानने वाले हैं। कुटिलता प्रतिवन्धनात्मक पाप नाश कर। पवित्ररूप वाले तुम को हम नमस्कार करें। हमारे इष्ट साधक हम, आप का कोई और प्रत्युपकार नहीं कर सकते।

म. म. आर्यमुनि—(राये) ऐश्वर्यप्राप्ति के लिये।

श्री पाद--उन्नति के लिये।

गीता में इस मन्त्र की छाया—(सुपथ) अग्नि-र्ज्योतिः ।८।२४। पुनश्चभूयोऽपि ।११।३९। इति (काण्व. १८) १६। इति।

सतरहवां मन्त्र

पृष्ठ २७ हिरण्मयेनेति—काण्व में पूर्वार्द्ध १५वां और उत्तरार्द्ध पाठभेद से १६ वां है।

'अग्ने नय' यह मन्त्र ऋ १।१८९।१। यजु—माध्यन्दिनं ५।३६॥७। ४३॥ ४०।१६। काण्व ४०।१८॥ तै सं. १,१,१४,३; ४,४३,१; तै. ब्रा. २, ८,२,३; तै. आ. १,८,८ काठक सं. ३,४; ६,३०; शत. ब्रा. १४,८,३,१; बृ. उ. १,१५; में आया है। इस मन्त्र के भिन्न-भिन्न स्थलों पर अंगिरस्, अगस्त्य, दध्यङ्ङाथर्वण, स्वयंभू मनु और दीर्घतमा द्रष्टा होने से पांच ऋषि हैं। बन्धुः।

पदार्थ--(हिरण्मयेन) सोने के (पात्रेण) पात्र से (सत्यस्य) सत्य का (मुखम्) मुख (अपिहितम्) ढका हुआ है। (यः) जो (असौ) वह (आदित्ये) आदित्य में (पुरुषः) पुरुष है। (स) वह (असौ) प्राणों में अहम् मैं हूँ। (ओम्) रक्षक (खं) आकाश की तरह व्यापक (ब्रह्म) ब्रह्म है।१७।

भिन्न-भिन्न भाष्य तथा टीकाओं का संक्षिप्तार्थ

उवट--आदित्य की उपासना कही है—यद्यपि ज्योतिर्मय रश्मियों के मण्डल से (सत्यस्य) अविनाशी पुरुष का (मुखम्) शरीर (अपिहितम्) ढंका हुआ है। तथापि (यः) जो (असौ) वह (आदित्ये) आदित्य में (पुरुषः) पुरुष योगियों का लक्ष्य है (स) वह (असौ) वह (अहम्) मैं (अस्मि) हूँ, इस प्रकार जान कर उपासना करे। (ओं) यह परमेश्वर का नाम कहा है (खम्) आकाश यह उसका रूप बतलाया, कि (ब्रह्म) ब्रह्म आकाश के समान व्यापक है। उसका ध्यान करे।

महीधर--ज्योतिर्मय मण्डल से आदित्य मण्डल स्थित अनादि पुरुष का शरीर ढंका हुआ है, तथापि जो वह प्रत्यक्ष आदित्य मण्डल में पुरुषाकार प्राण और बुद्धि स्वरूप से समस्त जगत् में पूर्ण है। वा पुरि= मण्डल में+शयन=वास करने से पुरुष; मण्डल में है, वह प्रत्यक्ष कारण-कार्य संघात वाला मैं हूँ। ऐसे उपासना करे। (ओं) ब्रह्म का नाम है और (खं ब्रह्म) आकाश की तरह व्यापक ब्रह्म का ध्यान करे। यद्यपि ब्रह्म चेतन और आकाश अचेतन है। तथापि आकाश के साथ व्यापक होने की समानता के कारण खं ब्रह्म कहा है। ओं का जप और ध्यान करे। सूर्य मण्डल में स्थित पुरुष मैं ही हूँ। इस प्रकार अभेद से उपासना करे।१७।

श्री ब्रह्मानन्द—(हिरण्मयेन पात्रेण) तीक्ष्ण ज्योति से व्याप्त होने के कारण (सत्यस्य मुखं) ब्रह्म के पास नहीं जाया जा सकता। हे

भास्कर ! अपनी किरणों के जाल को हटा और मुझे सत्य लोक में ब्रह्म के पास जाने के लिए रास्ता दे। हे अच्युत मैं तुझ से नौकर की तरह प्रार्थना नहीं कर रहा, किन्तु मैं तेरा अपना स्वरूप हूं।[1] क्योंकि मैं ब्रह्म हूं—और आप भी ब्रह्म हैं। हम दोनों सदा से एक हैं। (योऽसावादित्ये पुरुषः) जो वह आदित्यमण्डल में अपनी पूर्णता के कारण पुरुष कहलाता है। (सोऽसावहम्) तथा देह, इन्द्रिय तथा बुद्धि का साक्षी है। वह मैं स्वयं ही हूं। (ओं खं ब्रह्म) परम सत्यस्वरूप ब्रह्म मेरी रक्षा करे।

श्री रामचन्द्र—(हिरण्मयेन) प्रकाशमय (पात्रेण) विम्ब से (सत्यस्य) ब्रह्म का (मुखम्) प्रधान रूप (अपिहितम्) आच्छादित है, अर्थात् सभी मनुष्यों को ज्ञात नहीं, तथापि (योऽसौ) जो प्रसिद्ध वह साधारण मनुष्यों से परोक्ष (आदित्ये पुरुषः) आदित्यमण्डल में स्वप्रकाश समस्त शक्तियों का आधार सभी शरीरों में बसने के कारण पुरुष कहलाता है (सोऽसावहम्) वह ही अथवा वह यह सब के अति समीप प्रत्यक्ष मैं हूं। श्रुति बतलाती है कि पुरुष में और जो आदित्य मण्डल में है, वह एक ही है। ओ३म् खं ब्रह्म। ओंकार का वाच्य आकाश के समान व्यापक ब्रह्म मैं ही हूं।१७।

दिगम्बरानुचर—जो आदित्यमण्डल में पुरुष है। उस परमेश्वर का अंश होने से मैं भी वही हूं। भेद तो उपाधि से है, उसके दूर होने से भेद स्वयं मिट जाता है।

श्री जयदेव—(हिरण्मयेन) सब के हृदयग्राही हित और रमणीय ज्योतिर्मय (पात्रेण) पालक द्वारा (सत्यस्य) सत्य आत्मा और परमात्मतत्व का (अपिहितम्) ढका हुआ (मुखम्) खोला जाता है (यः) जो (असौ) वह (आदित्ये) सूर्य अर्थात् प्राण में (पुरुषः) पुरुष शक्तिमान् प्रकाशकर्ता है (असौ अहम्) वह ही मैं हूं। (ओ३म्)

---

१. भृत्यवत्त्वां नैव याचे, स्वरूपोऽहं तवाच्युत।

सब संसार का रक्षा करने हारा, वह (खम्) आकाश के समान अनन्त और आनन्दमय है और वही (ब्रह्म) गुण, कर्म, स्वभाव में सब से बड़ा है ।१७। अथवा—ढकने से जैसे वस्तु छिपी रहती है । उसी प्रकार ज्योतिर्मय पदार्थों से मुझ से परमशक्ति का सत् पदार्थों में विद्यमान सत्य स्वरूप छिपा है । दृष्टान्त के रूप से जो महान् शक्ति सूर्य में विद्यमान है, वही मैं हूं[1] । (काण्व पूर्वार्द्ध।१५।) ॥१७॥ इति।

गीता में छाया—यद्यप्येते न पश्यन्ति ।१।३८। धूमेनाव्रियते ।३।३८।

इति (हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्) इस माध्यन्दिन पाठ के आगे काण्व में यों पाठ है—

काण्व पाठ—तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।१५

पदार्थ—**हे (पूषन्) जगत् पोषक (तत्) उसे (त्वम्) तू (सत्यधर्माय) सत्यधर्म के (दृष्टये) दर्शन के लिये (अपावृणु) दूर हटा दे ।१५।**

आनन्दभट्ट—मृत्यु के समय उपासक अमृतत्व प्राप्ति की आदित्य से याचना करता है । हे (पूषन्) हमारे पोषक सूर्य ! (हिरण्मयेन पात्रेण) ज्योति के आधार भूत आदित्य मण्डल ने (सत्यस्य मुखम्) ब्रह्म के द्वार को (अपिहितम्) बन्द किया हुआ है। अतः (तत्) उसे (त्वम्) तू (सत्यधर्माय) सत्य जो तू है, उस तेरी उपासना से मैं सत्य धर्म हो गया हूं (अर्थात् सत्य ही है, धर्म जिस का ऐसा जो मैं हूं) मेरे लिये अथवा सत्य धर्म[2] के (दृष्टये) दर्शन के लिये (तत्) उस द्वार को (अपावृणु) खोल दे ।

अनन्ताचार्य—अधिकारी शिष्य के लिये परमात्मा का निरूपण कर उस का साक्षात्कार मोक्ष में साधन है । यह पीछे कहा गया है, पर वह साक्षात्कार श्रवण मात्र से नहीं हो जाता और न ही साक्षात्कार मात्र

---

१. माध्यन्दिन पाठानुसार यहां पर यह उपनिषद् समाप्त हुई ।

२. यद्वा व्यत्ययः— सत्यधर्माय = सत्यधर्मस्य इति आनन्दभट्ट ।

से मोक्ष मिल जाता है, किन्तु मोक्ष-प्राप्ति भगवदनुग्रह से ही होती है। इसलिये जिन्होंने श्रवण-मनन कर लिये हैं, उन्हें साक्षात्कार के लिये और जिन्होंने साक्षात्कार कर लिया है, उन्हें मोक्ष प्राप्ति के लिये भगवत् प्रार्थना करनी चाहिये। यही बतलाने के लिये कहा है—(हिरण्मयेन) तेजोमय (पात्रेण) सूर्यमण्डल से (सत्यस्य), आदित्यमण्डलस्थित अविनाशी पुरुषोत्तम श्री भगवान् का (मुखम्), लीलाविग्रहस्वरूप (अपिहितम्) ढका हुआ है। (पूषन्) हे भक्त पोषक परमात्मन्! (सत्यधर्माय) सत्य ज्ञान आनन्दात्मक तेरे रूप को जो धारण करता अर्थात् चिन्तन करता है। उस सत्यधर्म भक्त के (दृष्टये) दर्शन अर्थात् साक्षात्कार के लिये (तत्) उस मुख को (त्वम्), तू (अपावृणु) खोल दे।

अद्वैत श्री शंकराचार्य—[प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दो मार्गों का वेद में वर्णन है (आत्मैवाभूद्विजानतः) इससे निवृत्ति मार्ग के विषय में बतलाया है, पर जो जीवन का मोह नहीं छोड सका उसे मरणपर्यन्त कर्म करने को कहा कि (अविद्या)=कर्म से मृत्यु को तैर=जीत कर (विद्या) देवताज्ञान से अमृतत्व को प्राप्त करता है। अब वह अमृतत्व किस मार्ग से प्राप्त होता है, यह बतलाते हैं]।

यथोक्त कर्म करने वाला मृत्यु समय आने पर आदित्यमण्डलस्थ आत्मा से आत्मप्राप्ति के द्वार की याचना करता है। (हिरण्मयेन) ज्योतिर्मय ढकने से आदित्य मण्डलस्थित ब्रह्म का द्वार ढंपा=छिपा हुआ है। हे पूषन्! सत्य की उपासना के कारण सत्य ही जिसका धर्म है ऐसा जो मैं सत्य धर्म हूँ, मेरे लिये अथवा यथार्थ धर्म का अनुष्टान करने वाले के (दृष्टये) देखने को (त्वम्) तू (तत्) उस ढकने को अपनी उपलब्धि के लिये (अपावृणु) हटा दे ॥१५॥

---

१. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न वहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। कठ।२।२३।

विशिष्टाद्वैत--भगवान् से समाधि के प्रतिबिन्ध की निवृत्ति के लिये प्रार्थना करता है--(सत्यस्य) जीव का (मुखम्) मन (हिरण्मयेन) रागात्मक (पात्रेण) पात्र परमात्मविषयक वृत्ति का प्रतिबन्धक अथवा (हिरण्मयेन पात्रेण) कर्माधीन भोगसमूह से (अपिहितम्) ढंका हुआ है। (तत्) उस जीव के मनको (पूषन्) आश्रितों का पोषण करने वाले! (सत्यस्य) जीव के (धर्माय) धर्मरूप ब्रह्म के (दृष्टये) दर्शन के लिये (त्वम्) तू (अपावृणु) उस पर्दे को दूर करदे।१५।

शुद्धाद्वैत—(काण्व क्रम से पिछले १४वें मंत्र में 'सम्भूत्यामृतमश्नुते' कहा है। उस अमृत का उपभोग किस प्रकार किया जा सकता है यह बतलाते हैं, कि गोपियों की भान्ति श्री पुरुषोत्तम के विरहानुभव करने पर ही अमृत का आस्वादन हो सकता है)। (पूषन्) हे पुष्टि=अनुग्रह करने वाले कृपालु भगवन्! (हिरण्मयेन) स्वर्ण के (पात्रेण) मुकुट से (आ) कुछ थोड़े से (पिहितम्) ढ़के हुए (सत्यस्य) श्री पुरुषोत्तम अपने (तत्) उस अनिर्वचनीय (मुखम्) मुख को (सत्यधर्माय) सत्यरूप आपका अंश होने से धर्मभूत मुझ जीवात्मा पर अनुग्रह करने के लिये (त्वम्) आप (दृष्टये) प्रत्यक्ष इन आंखों से दर्शन के वास्ते (अपावृणु) प्रकट कीजिये।

द्वैत—अधिकारी शिष्य के लिये परमात्मस्वरूप का निरूपण करके उसका साक्षात्कार मोक्ष का साधन पीछे कहा है, परन्तु वह ईश्वर का साक्षात्कार श्रवणादिमात्र से नहीं होता और न ही मोक्ष साक्षात्कार मात्र से, जैसे राजा के दर्शनमात्र से ही कैदी नहीं छूटजाता। छूटने के लिये उसे प्रार्थना करनी पड़ती है वा राजा स्वयं कृपालु हो जाय तब छूटता है। इसी प्रकार मोक्ष-प्राति भी केवल साक्षात्कार से नहीं होगी, किन्तु उस के लिये भगवत्-प्रसाद की आवश्यकता होती है। इस लिये श्रुति प्रार्थना करने को कहती है। अतः जिसने श्रवण-मनन कर लिये हैं, उसे साक्षात्कार के लिए और साक्षात्कार कर लेने वाले को मोक्षप्राप्ति के लिये प्रार्थना करनी चाहिये। (हिरण्मयेन) तेजोमय

सूर्यमण्डल से सत्यस्य सद्गुणपूर्ण विष्णु का विग्रह शरीर ढपा हुआ हैं। (पूषन्) हे पूर्ण परमेश्वर आप उसे (सत्यधर्माय) ब्रह्म को हृदय में धारण करने वाले मुझ भक्त के देखने के लिये खोलदें।१५।

म. म. आर्यमुनि—सुवर्णरूप ज्योतिर्मय ढ़कने से सत्य का मुख ढका हुआ है (पूषन्) हे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के पोषक परमेश्वर ! उसको तूं सत्यधर्म के दर्शन के लिये खोल दे ?

(भाष्य)—वित्तैषणा रूप पात्र से जिन के लिये ब्रह्म का स्वरूप ढका हुआ है। उनकी मोहनिवृत्ति के लिये इस मन्त्र में प्रार्थना की गई है, कि परमात्मन् ! हमारे मोह को निवृत्त करो ताकि हम आपके दर्शन करें। हिरण्मय पात्र यहां सब प्रकार के लोभ का उपलक्षण है। अतः परमात्मस्वरूप के जिज्ञासु को किसी प्रकार का प्रलोभन न होना चाहिये।१५।

महामहोपाध्याय श्रीदेवराज—धन के लोभ से सचाई का मुंह बन्द है। (पूषन्) हे सब जगत् को पालने वाले परमेश्वर ! तू इस पर्दे को दूर हटा दे जिस से मुझे सचाई और धर्म (कर्तव्य) दीखने लगे।१५।

पृष्ठ २७ पर आये काण्व शाखा के १६वें मन्त्र का अर्थ--

पदार्थ--(पूषन्) पोषक (एकर्षे) एक मात्र साक्षात् द्रष्टा (यम) नियामक (सूर्य) प्रकाशक (प्राजापत्य) प्रजा के स्वामी (व्यूह रश्मीन् समूह) फैलने वाली किरणों को इकट्ठा कर (यत्) जो (ते) तेरा (कल्यणतमम्) बहुत ही कल्याणकारक सौम्य (रूपम्) रूप है (तत्) उस तेजोमय रूप को (पश्यामि) मैं देखूं। (यः) जो (असौ) वह प्रसिद्ध (असौ) वह (पुरुषः) पुरुष है (स) वह (अहम्) मैं (अस्मि) हूं।१६।

अद्वैत—जगत् के पोषक ! (एकर्षे) अकेला चलने वाले सब के नियामक (सूर्य) प्राणों और रसों को स्वीकार करने वाले (प्राजापत्य) प्रजापति के पुत्र सूर्य अपनी किरणों को दूर कर और अपने तपाने वाले तेज

को शान्त कर जिस से तेरा जो कल्याणतम अति सुन्दर रूप है, उसे तुझ आत्मा की कृपा से देखता हूं। किन्तु यह बात मैं सेवक के समान नहीं याचना करता, क्योंकि जो [1]व्याहृतिरूप अङ्गों वाला आदित्य मण्डल में पुरुष है, पुरुषाकार होने से वा प्राण और बुद्धि-रूप से समस्त जगत् को पूर्ण किये हुए है, वा जो शरीररूप पुर में शयन करने के कारण पुरुष है, वह मैं हूं।१६।

शंकरानन्द—जो तेरा प्रसिद्ध ज्योतिर्मय स्वभाव वाला (कल्याणतमम्) आनन्दमय (रूपम्) रूप है। उस तेरे रूप का साक्षात्कार करता हूं। द्रष्टा तथा दृश्य का भेद मिटाने के लिये कहा है, जो प्रसिद्ध वह आदित्य मण्डल में परोक्ष है वही शास्त्रदृष्टि से प्रत्यक्ष परिपूर्ण पुरुष मैं हूं।१६।

विशिष्टाद्वैत—(पूषन्) आश्रितों के पोषक (एकर्षे) अद्वितीय अतीन्द्रिय द्रष्टा (यम) सर्वान्तर्यामी (सूर्य) अपने उपासकों को प्रेरणा करने वाले (प्राजापत्य) जीवों के अन्तःकरण में वास करने वाले अथवा विष्णु (रश्मीन्) अपने दिव्य दर्शन को रोकने वाली किरणों को (व्यूह) हटा और (तेजः) जो दर्शन में सहायक प्रभा है, उसे (समूह) एकत्र कर। जिससे (यत्) जो (ते) आपका (कल्याणतमं रूपं) बहुत सौंदर्यादि गुणयुक्त कल्याणकारक शुभ रूप है। उसे मैं (पश्यामि) देखूं। (यत्) जो (असौ) वह प्रसिद्ध पुरुष है (स) वह (असौ) वही आप (अहम्) [2]नामक अन्तर्यामी परमेश्वर हैं। यहां 'अहं' पद का जीव नहीं, किन्तु अन्तर्यामी परमेश्वर अर्थ ही है।

शुद्धाद्वैत—पुष्टि कहते हैं, भगवत्कृपा को (पूषन्) पुष्टि के देने वाले (एकर्षे) सर्वव्यापक होने पर भी हम भक्तों को दर्शन न देने के कारण

---

१. आनन्दगिरि—एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिरः भुवरिति बाहू द्वौ स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे। बृ. ५।५।३। व्याहृति—उसपुरुष का भूः शिर, भुवः बाहू, स्वः पाओं हैं।

२. सोहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहन्नाम अभवत्। बृ. उ १।४।१।

अकेला असहाय छोड जाने वाले (यम) विरह की यातना देने वाले (सूर्य) वियोग के ताप से तपाने वाले (प्राजापत्य) प्रजा की रक्षा के लिये ब्रह्मा द्वारा प्रार्थना करने पर अवतार लेने वाले (व्यूह रश्मीन्) प्रकाशमय देह को इन्द्रियातीत अव्यक्त रूप को साकार बना कर (तेजः) अपने दिव्य रूप को (सम्+ऊह) तर्क का विषय बनाइये, अर्थात् अपने अज्ञेय रूप को ज्ञेय बनाइये। (यत्) जो (ते) तेरा परमकल्याण आनन्दप्रद रूप है। उसे मैं (पश्यामि) देखना चाहता हूं। (यः) जो शास्त्रप्रसिद्ध (असौ) वह निराकार तथा (असौ) वह साकार (पुरुषः) पुरुष (सः) वह (अहमस्मि) मैं हूं। जीव और ईश्वर भिन्न २ होने पर भी विरही भक्त ध्यान करते २ अपने को तद्रूप मानने लगता है।१६।

द्वैत—(पूषन्) पूर्ण परमात्मन् (एक[1]+ऋषे) प्रधान ज्ञान स्वरूप विष्णु (यम) नियामक हरि (सूर्य[2], सूरि=बुद्धिमान् वा देवों को प्राप्त होने योग्य, होने पर भी (प्राजापत्य) हिरण्यगर्भ से विशेष प्राप्त होने वाले (रश्मीन्) जीव के स्वरूप ज्ञान का (व्यूह) निर्णय कर (तेजः) वाह्य वृत्तिरूप ज्ञान को (समूह) समेट दे। यत् जो (ते) तेरा कल्याण का कारण रूप है (यः) जो (असौ[3]) प्राणों में स्थित (असौ) वह (अहम्[4]) कभी हीन न होने वाला सदा एकरस रहने वाला वा (अहम्=अ+हा) अहेय कभी न त्यागने योग्य (अस्मि[5])

---

१. एकशब्दस्य प्रधानवाचकत्वे √ऋष् ज्ञाने इत्यतः।

२. सूरिशब्दोपपदस्य याते रूपं =सूर्यः सूरिगम्यत्वात्।

३. असु शब्दस्य सप्तम्यामिदमिति। असु शब्दः प्राणवाचकः तस्य सप्तमी असाविति स्थितपदाध्याहारः। योऽसौ प्राणे स्थितः पुरुषः। इति रघुनाथतीर्थः।

४. अहं शब्देनाहेयत्वलाभप्रकारं सूचयति—न-हीयत इति अनेन नञ् पूर्वात् ओहाक्=त्यागे इत्यस्मात् अहम्।

५. अस्मि शब्दात् सत्वेन प्रमितत्वं कथं लभ्यत इत्याह—√अस्=भुवि √माङ् मान इत्याभ्यां डिप्रत्यये, द्वितीयधातो ष्टिप्रत्यये अस्मि इति श्रीरघुनाथतीर्थः।

नित्य प्रमायुक्त (पुरुषः) परमेश्वर वा (अस्मि अस+मा) समस्त भूतों के अस्तित्व का माप करने वाला परमेश्वर है (तत्) उस (ते) तेरे रूप को तेरी कृपा से देखूं ।१६। (१७ मध्व)

श्री ब्रह्ममुनि—शरीर में एकाकी चेतनज्ञाता, इन्द्रियों और मन के नियमन करने वाले, प्रजापति परमेश्वर के पुत्र-सूर्यरूप-जीवात्मन्, तू फैलने वाली रश्मियों शक्तिवृत्तियों को एकत्र कर, पुनः तेरा जो अत्यन्त कल्याणमय रूप तेज है। उस तेरे तेजोरूप को मैं देख सकूं और कह सकूं कि जो अमुक-अमुक पुरुष—चेतनात्मा है, वह मैं हूँ ।१८।

प्रो. राजाराम—मैं तेरे उस कल्याणतमरूप को देखता हूँ (योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि) जो वह, वह पुरुष (सत्यब्रह्म) है वह मैं हूँ।

टिप्पण—यह अभेद भावना दिखलाई है। उपासक को चाहिये कि अपने उपास्य के रंग में इस तरह रंगा हुआ हो कि दुई सर्वथा जाती रहे। यह वचन प्रेम के अतिशय को प्रकट करते हैं। वास्तव में वह प्रेम क्या जिसमें दुई बनी रहे। इसी अभिप्राय से यहां अभेद कहा है। स्वरूप की एकता के अभिप्राय से नहीं ।१६। प्रो. राजाराम।

गीता में इस मन्त्र की छाया—यमः संयमतामहम्। १०।२९। ममैवांशो जीव-लोके।१५।७। ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्।१४।२७। इति १७।

श्री रघुनाथदत्तेन बन्धुना ज्ञान-वृद्धये।
ईश-ग्रन्थस्य भाष्याणां संक्षिप्तार्थः प्रदर्शितः ॥१॥
साफल्यं लप्स्यते ह्येष सर्व एव परिश्रमः।
अधीत्यैनं जनाश्चेत्स्युर्वेदान्तार्थविमर्शिनः ॥२॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

---

१. वेद-कल्पवृक्ष से विद्वानों ने अपनी-अपनी कल्पनानुरूप जो-जो फल प्राप्त किये हैं। यहां उनके कुछ थोड़े से अंशों से परिचय प्राप्त कर सर्वसाधारण भी अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल उन भाष्य वा टीकाओं का रसास्वादन उन्हीं पुस्तकों से करें। इसी उद्देश्य से मैंने यह द्वितीय भाग लिखा है। किसी पक्षपात वा किसी के पक्ष-पात के लिये नहीं लिखा। बन्धुः।

ठाकुरदत्त शर्मा धर्मार्थ ट्रस्ट

यह ट्रस्ट १९३५ में श्री पं० ठाकुरदत्त जी ने अपनी ही चल-अचल सम्पत्ति में से वक्फ कर के चलाया था जो भली प्रकार अपना कार्य कर रहा है। इस समय निम्नलिखित सम्पत्ति है।

	Rs. A. P.
१. वैद्यकोन्नति तथा चिकित्सा सहायतार्थ	92098 – 1 – 10
२. शिल्पोन्नति के वास्ते	131963 – 7 – 9
३. सम्बन्धियों की सहायतार्थ	32139 – 5 – 7
४. वेदप्रचार तथा जनता की शारीरिक अध्यात्मिक एवं सामाजिक उन्नति निमित्त	35145 – 8 – 3
५. अनाथों असहायों और निराश्रितों के सहायतार्थ	37706–12 – 0
६. विद्या-प्रचारार्थ	52334 – 4 – 4
७. रिजर्व फण्ड	72077 – 6 – 3
८. गुरुकुल रिसर्च पीठ (ट्रस्ट बनने से पूर्वका)	
९. नकोदर के निर्धनों की सहायतार्थ	2000 – 0 – 0
१०. प्याऊ फण्ड	4229 – 7 – 0
११. जनरल चैरिटी फण्ड (विविध धर्मार्थ कार्य)	55403 – 4 – 6
१२. सिलाई-मशीन फण्ड	1135 – 5 – 0
१३. कार्यालय व्यय फण्ड	11716–12 – 6
१४. आर्य प्रतिनिधि सभा को वेदानुसन्धानार्थ	100000 – 0 – 0
	627949–11 – 0

हीरानन्द शर्मा

मन्त्री ठाकुरदत्त शर्मा धर्मार्थ ट्रस्ट

सूचना

अमृतधारा के आविष्कारक पूज्य श्री पं० ठाकुरदत्त शर्मा वैद्य जी ने दीन-अनाथों की सहायता, शिक्षा तथा वैदिक-धर्म प्रचार के लिये "ठाकुरदत्त शर्मा धर्मार्थ ट्रस्ट" नाम की एक संस्था स्थापित की हुई है। जो सन् १६३५ से जनता की सेवा में तत्पर है।

उस ट्रस्ट की ओर से कुछ पुस्तकें बिना मूल्य या नाममात्र मूल्य पर दी जाती हैं। बिना मूल्य की पुस्तकों के लिये पोस्टेज के एक पुस्तक के लिये -) और तीनों के लिये =) के टिकट भेजने पर और मूल्य की पुस्तक वी. पी. पी. द्वारा मंगवाने पर मिल सकती हैं।

पुस्तकों के नाम

१. ओंकार उपासना (लेखक श्री स्वामी सत्यानन्द जी महाराज) बिना मूल्य।

२. सदाचार-शिक्षा (लेखक श्री पं. ठाकुरदत्त शर्मा जी वैद्य अमृत-धारा) बिना मूल्य।

३. क्या रामसेना बन्दर थी? (लेखक श्री पं. रघुनाथदत्त बन्धुः) बिना मूल्य।

४. 'Aryabhivinaya' (Translated by Swami Bhumananda Saraswati M. A.) Rs. 1/8/-

यह श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती की आर्य्याभिविनय का अंग्रेज़ी अनुवाद है। इसी में संध्या हवन के मन्त्रों का भी अंग्रेज़ी अनुवाद है और आवश्यक स्थलों पर व्याख्या भी है और श्री स्वामी जी की संक्षिप्त जीवनी भी दी है। यह २७० पृष्ठ की पुस्तक है। अंग्रेज़ी जानने वालों को यह अवश्य पढ़नी चाहिये।

मिलने का पता—

मन्त्री ठाकुरदत्त शर्मा धर्मार्थ ट्रस्ट देहरादून (उत्तर प्रदेश)